विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ४ अप्रैल २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

भिलाई इस्पात संयंत्र

सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक श्रेष्ठता की ओर

"यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भिलाई इस्पात संयंत्र ने देश के सर्वश्रेष्ठ कार्यरत एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में वर्ष 1996-97 के लिये प्रधानमंत्री ट्राफी अर्जित की है। भिलाई इस्पात संयंत्र ने पाँच वर्ष में चौथी बार इस ट्राफी को जीता है। इससे संयंत्र के प्रशंसनीय निष्पादन और सर्वोच्च बने रहने के दृढ़ निश्चय की सहज पुनरावृत्ति प्रदर्शित होती है।

सर्वश्रेष्ठता सिर्फ मील का एक पत्थर है, मंजिल नहीं। आज के विश्वव्यापी आर्थिक माहौल में विश्व में सर्वश्रेष्ठ होना ही लक्ष्य होना चाहिये...."

अटल बिहारी बाजपेयी
माननीय प्रधानमंत्री

देश के सर्वश्रेष्ठ एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में चौथी बार प्रधानमंत्री ट्राफी विजेता

माननीय प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी, श्री अरविंद पांडे, अध्यक्ष, सेल एवं श्री वि. गुजराल, प्रबंध निदेशक, भिलाई इस्पात संयंत्र को प्रधानमंत्री ट्राफी प्रदान करते हुये।

स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड
भिलाई इस्पात संयंत्र

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक ४

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ५/-**

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(तेरहवीं तालिका)

४८९. रामकृष्ण विवेकानन्द सेवा समिति, निपानी (कर्नाटक)
४९०. श्री एच. एच. नवानी, आदिपुर, कच्छ (गुजरात)
४९१. प्राचार्य, आर. एम. पटेल गर्ल्स कॉलेज, भण्डारा (महा.)
४९२. प्राचार्य, जे. एम. पटेल कॉलेज, भण्डारा (महा.)
४९३. श्रीमती लीला विश्वास, चोवगाछा, नदिया (प. बंगाल)
४९४. श्रीमती प्रभा डी. कोल्ते, रामनगर, बुलढाणा (महा.)
४९५. श्रीमती विद्यारानी सक्सेना, जयपुर (राज.)
४९६. श्री सुबोध कुमार चतुर्वेदी, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
४९७. श्री आनन्द सुरेश टोल, रामकृष्ण नगर, नागपुर (महा.)
४९८. श्री विनोद आर. अग्रवाल, शान्तिनगर, नागपुर (महा.)
४९९. श्री जगन्नाथ राव विघ्नहर इनामदार, नागपुर(महा.)
५००. श्री सुभाष जी. थोते, रेशिमबाग, नागपुर (महा.)
५०१. श्री धर्मपाल, टैगोर गार्डेन, नई दिल्ली
५०२. श्री आनन्द खरे, कृषक नगर, जबलपुर (म.प्र.)
५०३. श्री अनुराग सिंह, गढ़ा फाटक, जबलपुर (म.प्र.)
५०४. श्री सुरेन्द्र कुमार सिंह, खलीबा, सरगूजा (म.प्र.)
५०५. सुश्री अनुजा झा, खैरागढ़, राजनाँदगाँव (म.प्र.)
५०६. श्री सत्य प्रकाश लाल, जवाहर नगर, वाराणसी (उ.प्र.)
५०७. श्री मनीषजी, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ.प्र.)
५०८. श्री बी. एन. वैद्य, न्यू जगन्नाथ प्लाट, राजकोट (गुज.)
५०९. श्री कुलवन्त राय शर्मा, पंजाबी बाग, नई दिल्ली
५१०. श्री रवि कुमार अग्रवाल, पुरानी बस्ती, रायपुर (म.प्र.)
५११. श्री धनंजय पारखे, बसंत कुंज, नई दिल्ली
५१२. श्री अमूल्यरंजन बैनर्जी, लक्ष्मी नगर, रायपुर (म.प्र.)
५१३. प्राचार्य, संत गजानन महा. इं. कॉलेज, शेगाँव (महा.)
५१४. श्री हनुमान प्रसाद अग्रवाल, बरगढ़, सम्भलपुर (उड़ीसा)
५१५. श्री माखन लाल डी. पाड़िया, शेगाँव, बुलढाणा (महा.)
५१६. श्री मृत्युंजय कर्मकार, लक्ष्मीनगर, नागपुर (महा.)
५१७. श्री एस. कृष्णन्, भिलाई नगर, दुर्ग (म.प्र.)
५१८. श्री डी. के. रमेश भाई, रेलटोला, गोंदिया (महा.)
५१९. श्री राजेन्द्र कुमार चौहान, नहर के पास, जोधपुर (राज.)
५२०. श्री सुहास धामोरीकर, कांग्रेस नगर, नागपुर (महा.)
५२१. श्री घनश्याम प्रसाद साहू, इंजी. रेजीमेंट, ५६ ए. पी. ओ.
५२२. श्री मुरलीधर शास्त्री, बारी (२), काँगड़ा (हिमांचल प्र.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को मत भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी रचनात्मक विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के अधिक-से अधिक चार-पाँच पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(५) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(६) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में यथोचित संशोधन करने का सम्पादक को पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस सयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल ससाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एव विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।
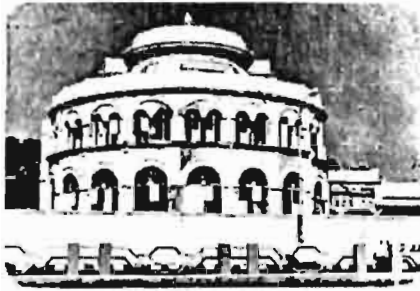
श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर, चेन्नै - ६०० ००४
फोन - ४९४१२३१, ४९४१९५९, फॅक्स : ४९३४५८९
Website : www.sriramakrishnamath.org
email srkmath@vsnl.com
८ जनवरी १९९९

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिये विवेकानन्दार इल्लम एक पुनीत भवन तथा तीर्थस्थान है। आपको विदित होगा ही कि सौ वर्ष पूर्व, फरवरी १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द चेन्नै के आइस-हाऊस या कैसल कर्नन नामक इसी बँगले में पधारे थे। उन्होंने यहाँ पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी अदृश्य तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोत्तेजक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं। फिर १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान् सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में यहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई, जो १९०६ ई. तक इसी पुनीत भवन में चलता रहा। इस प्रकार यह भवन दक्षिण भारत में रामकृष्ण सघ के प्रथम केन्द्र का निवास होने के साथ ही एक ऐतिहासिक स्थल भी है, जहाँ से स्वामीजी ने पूरे राष्ट्र को सन्देश दिया था।

हम यहाँ एक स्थायी प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश और भारतीय संस्कृति के उच्च तत्त्वों को प्रदर्शित किया जा सके। हमारी अभिलाषा है कि इसे एक ऐसा केन्द्र बनाया जाए, जहाँ से स्वामीजी के जीवनदायिनी सन्देश को पूर्णाकार चित्रों, सुन्दर तैलचित्रों, मॉडलों, वीडियोग्राफ और फिल्मों द्वारा प्रचारित किया जाए।

यह भवन १८४२ ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान निर्मित हुआ था और सबसे पहले तो इसका समुचित जीर्णोद्धार आवश्यक है। इस परियोजना में लगभग १.५ करोड़ रुपयों की लागत आयेगी। इसका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है, अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद तथा विवेकानन्द-अनुरागियों की कृतज्ञता के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। कृपया चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका,

स्वामी गौतमानन्द

नीति-शतकम्

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते ।
छेत्तुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते ।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥६॥

अन्वय – यः खलान् सुधा-स्यन्दिभिः सूक्तैः सताम् पथि नेतुम् वाञ्छति, असौ मृणाल-तन्तुभिः व्यालम् रोद्धुम् समुज्जृम्भते, शिरीष-कुसुम-प्रान्तेन वज्रमणिम् छेत्तुम् सन्नह्यते, मधुबिन्दुना क्षाराम्बुधेः माधुर्यम् रचयितुम् ईहते ॥

भावार्थ – जो व्यक्ति दुष्टों को अमृत बरसानेवाले सुभाषितों (उपदेशों) के द्वारा सन्मार्ग पर ले जाना चाहता है, वह मांनो कोमल कमलनाल के रेशों से मतवाले हाथी को बाँधने का प्रयास कर रहा है, शिरीष-कुसुम के नोंक से हीरे को छेदने के लिए तत्पर है और शहद की एक बूँद से खारे समुद्र को मधुर बनाना चाहता है । (अर्थात् ऐसी चेष्टा बिल्कुल निरर्थक है ।)

स्वायत्तमेकान्तहितं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः ।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥

अन्वय – विधात्रा अपण्डितानाम् स्वायत्तम् एकान्तहितम् मौनम् अज्ञतायाः छादनम् विनिर्मितम् । (यत्) सर्वविदाम् समाजे विशेषतः विभूषणम् (भवति) ।

भावार्थ – विधाता ब्रह्मा ने मूर्खों के कल्याणार्थ उनकी मूर्खता को छिपाने के लिए 'मौन' रूप उनके अधिकार में रहनेवाला अत्यन्त हितकर गुण बनाया है, जो सर्वज्ञ विद्वानों की सभा में उनके लिए विशेष अलंकार सिद्ध होता है ।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

— १ —

(मधुवन्ती-कहरवा)

हे रामकृष्ण करुणासागर ।
भर दो मेरे लघु जीवन को, जो माटी का रीता गागर ।।

ना समझ सका माया-छल को, भटका फिरता था मृगजल को,
अब शरण तुम्हारी आया हूँ, लेकर निज तृष्णामय अन्तर ।।

झुलसा हूँ भव के तापों से, आशा में खड़ा हुआ कब से,
शीतल मम जीवन-प्राण करो, बरसो मधुमय सीकर बनकर ।।

है जीवन सूना प्रभु तुम बिन, हैं बीत रहे दिन पल गिन गिन,
पिघलो अन्तर में भर जाओ, मम पीड़ा से तापित होकर ।।

— २ —

(भिन्नषड्ज/रागेश्री-रूपक)

अब मन कर न प्रभु विस्मरण ।
तज जगत की मोह-माया, भज उन्हीं के चरण ।।

देख सबकी घोर दुर्गति, जगत्पति होकर व्यथित अति,
रामकृष्ण रूप लेकर, किया भव अवतरण ।। अब मन. ।।

धर्म का दीपक जलाया, पूर्व-पश्चिम को मिलाया,
दीनबन्धु दयालु प्रभु ने, किया नरतन वरण ।। अब मन. ।।

कर प्रथम निज शुद्ध अन्तर, ध्यान कर उनका निरन्तर,
भवजलधि से चाहता जो, सहज ही सन्तरण ।। अब मन. ।।

– विदेह

राष्ट्रसेवकों को आह्वान

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था। यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने मे काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

तुम ईश्वर को खोजने कहाँ जाओगे – ये सब गरीब, दु:खी, दुर्बल लोग क्या ईश्वर नहीं हैं? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? तब तो तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम पूर्णत: नि:स्वार्थ हो? यदि हो, तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है? चरित्र की ही सर्वत्र विजय होती है। भगवान ही समुद्र के तल में भी अपनी सन्तानों की रक्षा करते हैं। तुम्हारे देश के लिये वीरों की आवश्यकता है – वीर बनो।

हृदय से अनुभव करो। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय तो प्रेरणा-स्रोत है! प्रेम असम्भव द्वारों को भी खोल देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों को खोलने का उपाय है। अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गई हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों लोग आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आए हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या यह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गई है? क्या इसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसार चुके हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो जान लो कि तुमने देशभक्त बनने की पहली सीढ़ी पर ही पैर रखा है।

कूपमण्डूकता छोड़ो और बाहर दृष्टि डालो। देखो, अन्य देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं। क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है? यदि 'हाँ', तो आओ, हम लोग उच्चता और उन्नति के मार्ग में प्रयत्नशील हों। पीछे मुड़कर मत देखो; अत्यन्त निकट और प्रिय सम्बन्धी रोते हों, तो रोने दो, पीछे देखो ही मत। केवल आगे बढ़ते जाओ!

मनुष्य, केवल मनुष्य भर चाहिये। बाकी सब कुछ अपने आप हो जायेगा। आवश्यकता है साहसी, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और दृढ़-विश्वासी निष्कपट युवकों की। ऐसे सौ मिल जाएँ, तो संसार का कायाकल्प हो जाये।

त्याग ही असली बात है। त्यागी हुए बिना कोई दूसरों के लिये सोलह आने प्राण देकर काम नहीं कर सकता। त्यागी सभी को समभाव से देखता है; सभी की सेवा में लगा रहता है। कोई भी सत्य, प्रेम तथा निष्कपटता को रोक नहीं सकता। क्या तुम निष्कपट हो? मरते दम तक नि:स्वार्थ? और प्रेम-परायण? तब तुम्हें डरने की जरूरत नहीं, मृत्यु से भी नहीं। जैसे जैसे तुम सेवामार्ग में अग्रसर होते जाओगे, ज्ञान के मार्ग में भी तुम्हारी प्रगति होती जायेगी। काम करो, भावनाओं को, योजनाओं को कार्यान्वित करो। मेरे बालको, मेरे वीरो, मेरे सर्वोत्तम साधु-स्वभाव प्रियजनो, पहिये पर जा लगो, उस पर अपने कन्धे लगा दो। नाम, यश अथवा अन्य तुच्छ विषयों के लिये पीछे मत देखो। स्वार्थ को उखाड़ फेंको और काम करो।

आलस्य का त्याग करो, इहलोक और परलोक के सुख-भोग को दूर हटाओ। आग में कूद पड़ो और लोगों को परमात्मा की ओर ले जाओ। काम में लग जाओ; फिर देखोगे, इतनी शक्ति आएगी कि तुम उसे सम्हाल नहीं सकोगे। दूसरों के लिये रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिये रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह के समान बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग

दूसरों के लिये परिश्रम करते करते मर भी जाओ, तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी ।

सत्य का प्रभाव असत्य की अपेक्षा अनन्त है और वैसे ही अच्छाई का । यदि तुममें ये गुण हैं, तो उनकी आकर्षण-शक्ति से ही तुम्हारा मार्ग साफ हो जायेगा । हर एक काम में सफलता प्राप्त करने के पहले सैकड़ों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । जो उद्यम करते रहेंगे, उन्हें आज या कल सफलता मिलेगी । सत्यकार्य में सफलता के रहस्य हैं – अनन्त धैर्य, अनन्त पवित्रता तथा अनन्त अध्यवसाय । शक्ति और विश्वास के साथ लगे रहो । सत्यनिष्ठ, पवित्र और निर्मल रहो । पहले से बड़ी बड़ी योजनाएँ न बनाओ, धीरे धीरे कार्य प्रारम्भ करो । जिस भूमि पर खड़े हो, उसे भलीभाँति पकड़कर क्रमशः ऊँचे चढ़ने की चेष्टा करो ।

इन दो चीजों से बचे रहना – सत्ता-प्रेम और ईर्ष्या । यदि तुम स्वयं ही नेता के रूप में खड़े हो जाओगे, तो तुम्हें सहायता देने के लिये कोई भी आगे नहीं बढ़ेगा । यदि सफल होना चाहते हो, तो पहले 'अहं' का नाश करो । अपने भाइयों का नेता बनने की कोशिश मत करो, बल्कि उनकी सेवा करते रहो । नेता बनने की इस पाशविक प्रवृत्ति ने जीवन रूपी समुद्र में अनेक बड़े बड़े जहाजों को डुबा दिया है । इस विषय में सावधान रहना । कभी दूसरों को मार्ग दिखाने या उन पर हुक्म चलाने का प्रयास न करना, जैसा कि अमेरिकन लोग कहते हैं, 'बॉसिंग' मत करो । सब के दास बने रहो । शासक बनने की चेष्टा मत करो – सबसे अच्छा शासक वह है, जो सबकी सेवा कर सकता है ।

हर एक के प्रति सहनशील रहो । तुम्हें वाद-विवाद में पड़ने से क्या मतलब? लोगों के भिन्न भिन्न मतों को सहन करो । अन्ततोगत्वा धैर्य, पवित्रता एवं अध्यवसाय की जीत होगी । विना पाखण्डी और कायर बने सबको प्रसन्न रखो । पवित्रता और शक्ति के साथ अपने आदर्श पर दृढ़ रहो और फिर तुम्हारे सामने कैसी भी बाधाएँ क्यों न हों, कुछ समय बाद संसार तुमको मानेगा ही । चुपचाप काम करो, दूसरों में दोष न निकालो । अपना सन्देश दो, जो कुछ तुम्हें सीखाना है, सीखाओ और वहीं तक सीमित रहो । शेष परमात्मा जानते है ।

अपने हृदय और आशाओं को संसार के समान विस्तीर्ण कर दो । मैं 'कट्टरता'वाली निष्ठा भी चाहता हूँ और भौतिकवादियों का उदार भाव भी चाहता हूँ । हमें ऐसे ही हृदय की आवश्यकता है, जो समुद्र-सा गम्भीर और आकाश-सा उदार हो ।

मेरे भाइयो, हम लोग गरीब हैं, नगण्य हैं, किन्तु हम जैसे गरीब लोग ही हमेशा उस परम पुरुष के यंत्र बने हैं । कोई आकर तुम्हारी सहायता करेगा, इसका भरोसा मत करो । सब प्रकार की मानव सहायता की अपेक्षा ईश्वर क्या अनन्त गुना शक्तिमान नहीं हैं? पवित्र बनो, ईश्वर पर विश्वास रखो, हमेशा उन्हीं पर निर्भर रहो – फिर तुम्हारा सब ठीक हो जायेगा – कोई भी तुम्हारे विरुद्ध कुछ न कर सकेगा । ... आओ, हम सब प्रार्थना करें, 'हे कृपामयी ज्योति, पथ-प्रदर्शन करो' – और अन्धकार में से एक किरण दिखाई देगी, पथ-प्रदर्शक कोई हाथ आगे बढ़ आएगा । ... जय हो प्रभु की! आगे कूच करो – प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं । पीछे मत देखो । कौन गिरा, पीछे मत देखो – आगे बढ़ो, बढ़ते चलो! भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जाएँगे – एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जायेगा । ... बहादुरो, कार्य करते रहो, पीछे न हटो – 'नहीं' मत कहो । कार्य करते रहो – तुम्हारी सहायता के लिये प्रभु तुम्हारे पीछे खड़े हैं । महाशक्ति तुम्हारे साथ विद्यमान है । ❖ (क्रमशः) ❖

भविष्य का धर्म

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को समस्त धर्मों में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबको समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनन्त क्षेत्र प्रदान करना होगा । अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा और साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला रखना होगा । धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए और धर्म सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए । ... ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त – सगुण, निर्गुण, अनन्त नैतिक नियम अथवा आदर्श मानवधर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए । और जब धर्म इतने उदार बन जाएँगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सैकड़ों गुना अधिक हो जाएगी । धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी संकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है ।

— *स्वामी विवेकानन्द*

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सतहत्तरवाँ प्रवचन – द्वितीयांश)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हें धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

ध्यान-विषयक निर्देश

इसके बाद ठाकुर विभिन्न अवस्थाओं के बारे में बोल रहे हैं, "मैं दीपशिखा पर यह भाव आरोपित करता था। उसकी ललाई को कहता था स्थूल, उसके भीतर के सफेद भाग को कहता था सूक्ष्म और सबके भीतर के काले हिस्से को कहता था कारण-शरीर।" जिन लोगों ने दीपशिखा की ओर ध्यान दिया है, वे इस उक्ति का तात्पर्य समझ सकेंगे। अर्थात् इस प्रकार उन्होंने बाह्य दशा, अर्धबाह्य दशा और अन्तर्दशा – इन तीन अवस्थाओं की बात कही है। या फिर वे उपमा देकर समझा रहे हैं कि पहले स्थूल शरीर रहता है, उसके बाद सूक्ष्म शरीर और उसके भी बाद कारण शरीर।

इसके बाद प्रसंग उठने पर वे बोले, "ध्यान ठीक हो रहा है, इसके कई लक्षण हैं। एक यह है कि जड़ समझकर सिर पर पक्षी बैठ जाया करेंगे।" उनका भाव यह है कि ध्यानमग्न व्यक्ति इतना देहबोधरहित हो जाएगा कि वह एक जड़ वस्तु जैसा प्रतीत होगा। देहबोध रहने पर चाहे जितनी भी सावधानी बरती जाय, थोड़ी बहुत चंचलता तो रहेगी ही। यह चंचलता की अवस्था ही सूक्ष्म शरीर का दृष्टान्त है। उसके बाद जब पूरा देहबोध चला जाता है, तब वह कारण शरीर है। कारण शरीर से ही पुन: कार्य की उत्पत्ति होती है। उसके भीतर अभिव्यक्ति का बीज छिपा रहता है, पूरी तौर से नष्ट नहीं होता। जब पूरी तौर से नाश हो जाएगा, तब उसे तुरीय अवस्था कहेंगे। सुषुप्ति के भीतर जाग्रत तथा स्वप्न के लौटने के बीज हैं निर्बीज अवस्था सुषुप्ति के परे – तुरीय है। इसके बाद वे केशव सेन की ध्यान-तन्मयता का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं, "जो भक्त ऐसा ध्यानी होता है, उसकी कोई कामना अपूर्ण नहीं रहती। वह इतना ध्यानी था कि इसी के बल से और ईश्वर की इच्छा से उसने जो कुछ (मान) चाहा, वह हो गया।" उसके बाद कहते हैं, "आँखें खोलकर भी ध्यान होता है।" यह विचारणीय बात है। सामान्यत: हम लोग आँखें बन्द करके ध्यान किया करते हैं। इससे बाहर के जो दृश्य मन को आकर्षित करते हैं, वे नहीं रह जाते। विषय विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा मन को आकर्षित कर रहे हैं। विषय के साथ इन्द्रियों का योग न रहने पर उससे मन को हटा लेने पर विषय का अनुभव नहीं होता। वे एक दृष्टान्त देते हैं। एक व्यक्ति मछली पकड़ने बैठा था। उसके बगल से होकर बाजे-गाजे के साथ बारात निकल गई, परन्तु उसे आभास तक नहीं हुआ। उसकी आँखें तथा कान खुले हैं, वह देख-सुन रहा है, परन्तु उसके मन को पता ही नहीं चला, क्योंकि मन वहाँ था ही नहीं। मन से जुड़े बिना इन्द्रियाँ विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकतीं। यहाँ उनका मन के साथ योग न होने के कारण ही अनुभव नहीं हुआ।

दृष्टान्त में कहा गया है, "**अन्यत्रमना अभूवं न श्रुतम् अन्यत्रमना अभूवं न दृष्टम्** – मेरा मन अन्यत्र था, अत: मैंने देखा नहीं, इसीलिये सुना नहीं।" शास्त्र मन को अणु या सूक्ष्म वस्तु कहते हैं। वह एक बार में अनेक विषयों को नहीं ग्रहण कर सकता, परन्तु लगता कि एक साथ ग्रहण करता है। हम लोग आँखों से देख रहे हैं, कानों से सुन रहे हैं – ये एक साथ होनेवाली घटनाएँ हैं। शास्त्र कहते हैं कि ये इतनी तेजी से होने के कारण ही, चलचित्र के समान एक साथ होनेवाली घटनाएँ प्रतीत होती हैं। सिनेमा का हर चित्र अलग अलग होने पर भी आँखों के सामने तेजी से गुजरने के फलस्वरूप वह निरन्तर चलनेवाली घटना प्रतीत होती है। मन के साथ भी ठीक ऐसा ही होता है। देखना, सुनना आदि कार्य भी ऐसा लगता है मानो एक साथ ही हो रहा हो। अस्तु, आँखें खोलकर ध्यान करना तभी सम्भव है, जब मन को विषय से निकाल लिया जाय। ऐसा होने पर कोई भी विषय मन को प्रभावित नहीं कर सकता। परन्तु सामान्य लोगों के लिये आँखें मूँदकर ध्यान करने का ही उपदेश है, क्योंकि उनमें मन को उतना विषयरहित करने की सामर्थ्य नहीं होती। यह केवल बड़े उच्च स्तर के साधकों के लिये ही सम्भव है, सामान्य लोगों के लिये आँखें बन्द करके ध्यान करना ही श्रेयष्कर है। गीता (६/१३) में ध्यान का निर्देश देते हुए कहा गया है – "**संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्** – अन्य किसी ओर दृष्टि न लगाकर केवल नासिका के अग्र भाग पर ही दृष्टि लगाना चाहिये।" इसका अर्थ यह नहीं कि नासिका के अग्र भाग को देखना होगा। क्योंकि ऐसा करने पर तो मन में उसी की वृत्ति उठेगी। अत: इसका अर्थ अगले श्लोकार्ध से स्पष्ट होगा कि किसी ओर नहीं देखना है।

इसके अतिरिक्त हम लोग प्रारम्भ में ही सावधान कर देते हैं

कि केवल योगीगण ही भौंहों के बीच में दृष्टि को एकाग्र कर सकते हैं, साधारण मनुष्य नहीं कर सकते । प्रयास करने से आँखों में बीमारी हो जायेगी । इसी कारण इन्द्रियाँ जैसे स्वाभाविक रूप से कार्य करती हैं, उन्हें वैसे ही करने देना चाहिये और सामान्य नियम के अनुसार आँखें बन्द करके ही ध्यान करना उत्तम है । कभी कभी सुनने में आता है कि आँखें बन्द करके ध्यान करने से नींद आ जाती है । इसके उत्तर में कहा जाता है कि हाँ, यह ठीक है कि नींद आ सकती है, परन्तु जगे रहते भी तो मन सोया रह सकता है अर्थात् अन्यमनस्क हो सकता है । इसी को शास्त्र में 'लय' कहते हैं । यह भी ठीक नहीं है, इससे भी साधना में विघ्न आती है । कहा गया है – **लये प्रबोधयेत् चित्तम्** – तब मन को जगाना होगा । सो जाने से काम नहीं चलेगा । मन को ध्येय वस्तु में केन्द्रित करके रखना पड़ेगा ।

इस विषय पर इतने विस्तार से चर्चा करने का कारण यह है कि साधना-पथ में अनेक लोगों को ऐसा कुछ अनुभव होता है जब वे सोचते हैं कि मैं ऐसा ध्यान कर रहा था कि सब कुछ विस्मृत हो गया । परन्तु उसका फल क्या हुआ? शून्य । क्योंकि ध्यान करने से फल होगा, परन्तु कुछ नहीं हो रहा था तो फल क्या होगा? इसी अवस्था को लय कहा गया है । इसमें मन जो प्रयास कर रहा था उससे विरत हो गया ।

अस्तु, ध्यान आँखें खोलकर होता है, बातें करते करते भी होता है – ठाकुर की इन उक्तियों को गम्भीरतापूर्वक विचार करके समझना होगा । मन के एक अंश का उपयोग किये बिना बातें नही कही जा सकती । उसके दौरान भी ध्यान होता है । कैसे होता है? मन के भीतर-ही-भीतर जब ईश्वर-चिन्तन का एक प्रवाह बहता रहता है, तब अन्य बातें कहते समय भी पूरा मन उसी में नियोजित नहीं रहता । मन जब उनके चिन्तन में डूबा रहता है, तभी ध्यान होता है । जैसा कि उन्होंने दाँत के दर्द का दृष्टान्त दिया है । मन के विभिन्न विषयों में बिखरे रहने के बावजूद उसका काफी अंश मानो उस दर्द में रह जाता है, अत: सब कार्यों के दौरान भी पीड़ा का अनुभव होता रहता है । इसी प्रकार भगवान में पूरी तौर से एकाग्र हो जाने पर अन्य कार्यों के बीच भी भगवान के साथ मन का योग या ध्यान-जप एक अविच्छिन्न धारा के रूप में चलता रहता है । यह अचानक नहीं हो जाता, बल्कि दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप होता है । जिन लोगों ने इसका अभ्यास किया है, उनके हृदय में यह (स्मरण-मनन) नदी की एक अदृश्य धारा के रूप में निरन्तर चलता रहता है । उल्टी दिशा से हवा चलने पर आपात दृष्टि से प्रतीत होता है कि वह पानी को उल्टी दिशा में ले जा रहा है, परन्तु भीतर का प्रवाह अपनी पुरानी दिशा में ही चलता रहता है । इस प्रकार मन की धारा निरन्तर ईश्वर की ओर चलेगी, उसके ऊपर विषयों की तरंगें भी उठती रहेंगी, परन्तु ये तरंगें मन को उसके लक्ष्य से च्युत नहीं कर सकेंगी । इसी को वे कह रहे हैं कि 'बातचीत के बीच में भी ध्यान होता है' । तथापि बातें करते समय बाहर से थोड़ी अन्यमस्कता देखने में आती है । जब मन अधिक गहराई में चला जाता है, तब फिर उसके द्वारा बाहर के कार्य नहीं हो सकते । इसी को 'तन्मय अवस्था' कहते हैं ।

इसके बाद वे दूसरे प्रसंग पर आते हैं । वे कह रहे हैं, "सिक्खों ने भी कहा था, 'वे दयामय हैं । उन्होंने हमारी सृष्टि की है, पग पग पर हमें विपत्ति से बचाते हैं ।' तब मैंने कहा, 'वे हमें पैदा करके हमारी देखरेख कर रहे हैं, खिलाते-पिलाते हैं, इसमें कौन-सी बड़ी तारीफ की बात है? तुम्हारे अगर बच्चा हो तो क्या उसकी देखरेख कोई दूसरा आकर करेगा'?" तात्पर्य यह है कि भगवान के साथ इतना ही अपनत्व का बोध होना चाहिये । हम लोग जो उनके प्रति कृतज्ञ होते हैं, इसका अर्थ यह है कि हमारा भगवान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हुआ है; होने पर कृतज्ञता का प्रश्न ही नहीं उठता, उस समय अधिकार का बोध आता है । कवि रामप्रसाद मानो ब्रह्ममयी जगदम्बा के चरणों को लूट लेने की बात कहते हैं अर्थात् उसमें अपना अधिकार जताते हैं । ठाकुर ने भी कहा है कि भगवान के साथ यदि ऐसा अन्तरंग सम्बन्ध जोड़ना हो, तो यह दावा किया जा सकता है कि उनकी सम्पत्ति मेरी भी सम्पत्ति है । भक्त के लिये यह अनुकूल सम्बन्ध है ।

पूर्वजन्म की साधना और उसका फल

एक व्यक्ति ने पूछा, "महाराज, किसी का काम जल्दी हो जाता है और किसी का नहीं होता, इसका क्या अर्थ है?" यह प्रश्न अनेक लोगों के मन में उठा करता है – मैं इतने दिनों से साधना कर रहा हूँ, परन्तु कुछ भी नहीं हो रहा है और अमुक व्यक्ति थोड़ी-सी साधना करके ही सिद्ध हो गया । ठाकुर ने यहाँ उसका एक कारण बताया है, "बात यह है कि बहुत कुछ तो पूर्वजन्म के संस्कारों से होता है । लोग सोचते हैं कि एकाएक हो रहा है ।" वे कई दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि इसके पहले जो कर्म किये गये थे, उन्हें तो हम देख नहीं पाते, परन्तु जो प्रत्यक्ष है उतना ही देखते हैं । यहाँ वे एक ही प्याला सुरा पीकर बेहोश हो जाने का और हनुमान द्वारा क्षण भर में स्वर्ण लंका को जला डालने का दृष्टान्त देते हैं । उसके बाद लाला बाबू तथा रानी भवानी के उदाहरण देते हैं । एक अन्य स्थान पर उन्होंने एक व्यक्ति के शव पर बैठते ही सिद्ध हो जाने का दृष्टान्त दिया है । फिर उन्होंने यह भी बताया है कि बगीचे में पानी का पाइप है । माली इधर-उधर खोद रहा था कि सहसा उसकी कुदाल पाइप पर लग गयी और कल कल कर पानी बहने लगा । ऐसी बात नहीं है कि पहले पानी नहीं

था और अब अचानक ही निकल आया। पानी पहले भी था, परन्तु बीच मे बाधा होने के कारण हम उसे देख नहीं पा रहे थे और उसके दूर होते ही पानी प्रगट हो गया। वैसे ही सम्भव है कि किसी बाधा ने किसी साधना-पथ के पथिक की गति को अवरुद्ध कर रखा हो और उसके दूर होते ही वह अपने पथ पर आगे बढ़ गया। हमारे लिये उसके पूर्व साधना का अंश अज्ञात है, इसीलिये हम कहते हैं कि अचानक हो गया।

फिर एक अन्य स्थान पर ठाकुर की दूसरी बात भी है – उनकी इच्छा हो तो वे दे सकते हैं, देना या न देना उनकी खुशी पर निर्भर है। एक लड़के ने एक सुन्दर कपड़ा पहन रखा था। किसी ने कहा कि वह मुझे दे दो। बच्चा कहता है – नहीं, नहीं दूँगा। फिर सम्भव कि एक पैसे का कोई गुड़िया देखकर लड़का कपड़े के बदले में उसी को ले ले। भगवान का भी छोटे बच्चे के समान ही मनमौजी स्वभाव होता है।

इस प्रसंग में बाइबिल की एक कथा याद आ रही है। एक व्यक्ति ने अपने खेत में कुछ मजदूर लगाये। मजदूरों की एक टोली सुबह से ही आकर काम में लग गयी, दूसरी टोली दोपहर में आयी, तीसरी टोली अपराह्न में आयी और शाम के समय भी एक और टोली आयी। दिन के अन्त में काम पूरा हो जाने पर किसान ने सबको एक समान मजदूरी दी। जो लोग पहले आये थे उन लोगों ने कहा – हम लोगों ने दिन भर काम करके जो पाया, इन लोगों ने अन्त में आकर भी उतनी ही मजदूरी पायी! उत्तर में मालिक ने कहा – तुम लोगों को जो देने की बात हुई थी, उससे कम तो मैंने दिया नहीं; मैं यदि किसी को ऐसे ही मजदूरी दूँ, तो तुम्हें क्या आपत्ति है? उन दिनों के मजदूर आज की भाँति संगठित नहीं थे, इसीलिये वे आगे कुछ नही बोल पाये।

भगवान कार्य-कारण के अधीन नहीं है, इसीलिए हम सभी चीजों की व्याख्या नहीं कर सकते। ठाकुर की उक्ति है – जिन्होंने नियम बनाया है, इच्छा होने पर वे उसे बदल भी सकते हैं। लाल गुड़हल के पौधे पर वे सफेद गुड़हल का फूल पैदा कर सकते हैं। पर जब हम लोग उनके पथ पर चलना आरम्भ करते हैं, तो नियम का अनुसरण करके ही चलते हैं। अब उनकी दया कब होगी, किस पर होगी और कैसे होगी, यह तो वे ही जानें। कुछ लोग शिकायत करते हैं कि वे इतने दिनों से साधना कर रहे हैं, तो भी कृपा नहीं हो रही है। इस पर हम उनसे कहते हैं – तुम लोगों का जो कर्तव्य है उसे तुम करो और उन्हें जो करना है वह वे करेंगे। हम उन्हें दया के लिये बाध्य नहीं कर सकते। और जहाँ तक हमारी साधना का सवाल है, हम भला कितना-सा करते हैं कि जिसके फलस्वरूप हम सिद्धि का दावा कर सकें? स्वयं से यह पूछना होगा। क्या मूल्य देकर उनकी कृपा को खरीदा जा सकता है? तब तो उसे कृपा ही नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में वेदों में एक दृष्टान्त आता है। सोम याग के लिये सोम रस की आवश्यकता पड़ती है। उन दिनों सोमलता बड़ी दुष्प्राप्य थी। एक व्यक्ति एक गाड़ी सोमलता लेकर आ रहा था। यज्ञकर्ता ने उससे पूछा – कितनी कीमत लोगे? यथाविधि मोल-भाव होने लगा। क्रेता जितना ही कीमत बढ़ाता, विक्रेता उतना ही कहता, "**राजासोम तत एव भूयान** – सोम उससे भी बढ़कर मूल्यवान है।" इतने मोल-भाव के बाद भी जब सोम का मूल्य निर्धारित नहीं हो सका, तो उसे विक्रेता से लूट लिया गया। तब तो उसे कीमत देकर लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। असल बात यह है कि इस वस्तु को कीमत देकर नहीं खरीदा जा सकता।

आध्यात्मिक सम्पदा को भी साधन-भजन रूपी मूल्य देकर नहीं खरीदा जा सकता। उनकी कृपा पर निर्भर रहना छोड़, हमारे लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। जब हम यथासाध्य प्रयास करके भी सफलता नहीं पाते, तभी हममें ठीक ठीक कृपा पर निर्भरता आती है। कई बार हम कहते हैं कि उनकी कृपा होने पर होगा। यह आलसी लोगों की बात है। दया तो कब होगी यह हम नहीं जानते, परन्तु जब तक हम अपनी पूरी शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते, तब तक हम दया की आशा भी नहीं रख सकते। जब तक हममें 'मैं' बुद्धि है, तब तक हमें पतवार को जोरों से पकड़े रहना होगा अन्यथा नाव बह जायेगी। खूब प्रयास किये जाना होगा और जब लगेगा कि और कुछ नहीं कर पा रहा हूँ, तब पतवार को उनके हाथ में छोड़ देना होगा। यही शास्त्र की और व्यावहारिकता की भी बात है। अपना अहंकार पूर्ण रूप से चूर्ण हो जाने पर ही मनुष्य पतवार को छोड़ सकता है और तभी वे उसे पकड़ते हैं। इस बात को विशेष रूप से याद रखना होगा।

भाव के अनुसार आचरण

किसी को सहसा ज्ञान-वैराग्य हो जाता है और किसी को नहीं होता – इसका क्या तात्पर्य है? एक भक्त के इस प्रश्न के उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "बहुत-कुछ तो पूर्वजन्म के संस्कारों से होता है।" जैसे लाला बाबू के भीतर पूर्ण वैराग्य था, पर उसे थोड़ा उकसावे की जरूरत थी। आग भीतर जल रही थी, पर बाहर से दिखाई नहीं दे रही थी। धोबिन की एक छोटी-सी बात सुन उन्हें वैराग्य हो गया और वे संसार छोड़कर चले गये। ठाकुर कहते हैं कि उनके वैराग्य के ऊपर एक आवरण था, जिसके हटते ही उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो गयी।

उसके बाद वे कहते हैं, "अन्तिम जन्म में सतोगुण होता है। तभी ईश्वर पर मन जाता है।" यदि अहंकार के चलते कोई अच्छा कार्य भी किया जाय, तो ठाकुर उसके विरोधी थे। जो लोग जगत् का उपकार करने की सोचते हैं, वे अपने सामर्थ्य पर विचार करके नहीं देखते। इसीलिये ठाकुर कहते

हैं, "संसार क्या इतना छोटा है कि तुम उसका उपकार कर सकोगे?" अपनी क्षुद्रता के विषय में यदि मनुष्य को स्पष्ट धारणा हो, तो फिर वह जगत् का उपकार करने के लिये इतना परेशान नहीं होगा। तो क्या कोई लोकहित के कार्य न करे? इसका उत्तर ठाकुर ने स्वयं ही दिया है – शिवज्ञान से जीव सेवा करना। ऐसा करने में दोष नहीं है, अन्यथा मैं जगत् का उपकार कर रहा हूँ, यह आत्म-अभिमान का परिचायक है। इससे न तो जगत् का और न अपना ही कल्याण सिद्ध होता है। जगत् के सभी लोगों में भगवान हैं – यह बोध अथवा सेवाभाव लेकर जगत् के कल्याण हेतु कुछ करने से उसका फल अन्य प्रकार का होता है। इससे सेवा करनेवाले के भीतर अभिमान-अहंकार आने की सम्भावना नहीं रहती और जिनकी सेवा की जाती है, उनके भीतर की सुप्त भगवत्ता भी व्यक्त कर पाना सहज हो जाता है। उनमें यह आत्मविश्वास जाग उठता है कि हमारे भीतर भी वे ही भगवान विराजमान हैं।

नारायण आये हैं। ठाकुर ने उन्हें सस्नेह खाट पर अपने पास बैठाया। ठाकुर के पास बहुत-से भक्त आया करते हैं। यद्यपि कोई उनका कम स्नेहपात्र नहीं है, परन्तु वे अधिकारी-विशेष के साथ थोड़ा अलग प्रकार का व्यवहार करते हैं। इस समय नारायण को खाट पर बैठाया और स्वामीजी (विवेकानन्द) को भी बैठाया करते थे, परन्तु यद्यपि मास्टर महाशय उनके विशेष स्नेहास्पद थे, तथापि उनको कभी खाट पर नहीं बैठाया। असल में जिसका जैसा भाव होता था, वे उसी के अनुसार उससे व्यवहार करते थे। किसी के भाव में बाधा आये, ऐसा व्यवहार वे नहीं करते थे। उदाहरणार्थ यदि किसी में दास्य भाव हो, तो वे उसके साथ ऐसी दूरी बनाये रखते थे, ताकि उसके भाव में व्यवधान न पड़े। रामबाबू, गिरीशचन्द्र घोष आदि ठाकुर के विशिष्ट भक्त थे; उन्होंने इन लोगों की प्रशंसा की है, परन्तु व्यवहार में दूरी बनाये रखा।

भक्ति ही सार है

अब ठाकुर भावावस्था में दीवार पर लगे विभिन्न देवी-देवताओं के चित्र देख रहे हैं। इसके बाद वे कहते हैं, "जिस तरह के संग में रहा जाता है, वैसा ही स्वभाव भी हो जाता है। इसीलिये तस्वीरों में भी दोष है।" रजोगुणी चित्र घर में रखने पर मन भी रजोगुणी हो जाता है। वे कहते हैं, "पेड़ देखने पर तपोवन की याद आती है, ऋषियों के तपस्या करने का भाव जाग जाता है।"

सींती के ब्राह्मण आये हैं। उन्होंने वाराणसी में वेदान्त पढ़ा था। ठाकुर ने उनसे स्वामी दयानन्द के बारे में जानना चाहा। दयानन्द देवताओं को मानते थे, परन्तु हम लोगों की तरह नहीं। सामान्य रूप से जिन्हें देवता कहा जाता है, वे थोड़ी ऊँची श्रेणी के जीव मात्र हैं। वे लोग स्वर्ग में भोगसुखों के बीच निवास करते हैं और उनमें भोग की आकांक्षा रहती है। इसीलिये त्यागी लोग इन देवताओं के प्रति आकृष्ट नहीं होते। इन देवी-देवताओं को चाहनेवाले लोग स्वर्गसुख चाहते हैं, परन्तु स्वर्गसुख इस जगत् का परम उद्देश्य नहीं है।

बातचीत के दौरान सींती के पण्डितजी ने थियोसफी के एक मुख्य प्रचारक कर्नल आल्काट का प्रसंग उठाया। पण्डितजी कह रहे हैं, "वे लोग कहते हैं कि महात्मा भी हैं। और चन्द्रलोक, सूर्यलोक, नक्षत्रलोक – ये सब भी हैं। सूक्ष्म शरीर उन सब स्थानों में जा सकता है।" ये बातें ठाकुर को पसन्द नहीं आयी और उन्होंने इस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाया। वे बोले, "भक्ति ही एकमात्र सार वस्तु है।" ठाकुर में किसी विशेष मत के प्रति पक्षपात या द्वेषभाव नहीं था। यदि किसी भी मत का उद्देश्य भगवान के प्रति भक्तिलाभ हो, तो वह उनकी दृष्टि में अच्छा था। उद्देश्य की दृष्टि से विचार करके देखना ही उचित है।

ठाकुर ने रामप्रसाद का एक भजन गाकर बताया कि केवल बुद्धि की सहायता से उन्हें जाना नहीं जा सकता। शास्त्र कहते हैं – "**नैषा तर्केण मतिरापनेया** – तर्क-विचार के द्वारा उन्हें नहीं पाया जा सकता"; "**न मेधया न बहुना श्रुतेन** – बहुत-सा शास्त्र अध्ययन करके भी नहीं पाया जा सकता।" शुद्ध-बुद्धि अर्थात् कामनारहित पवित्र बुद्धि के द्वारा ही भगवान का स्वरूप प्रकाशित होता है।

इसके बाद वे कहते हैं, "साधना की बड़ी जरूरत है। एकाएक क्या कभी ईश्वर के दर्शन होते हैं?" इसका अर्थ यह है कि साधना किये बिना, प्रयास किये बिना किसी बड़ी वस्तु, ईश्वर-दर्शन की आशा करना उचित नहीं है। उनके दर्शन के लिये जो कुछ करना उचित है, क्या हमने उन्हें किया है? बहुत-से लोग कहते हैं कि ईश्वर के होने का प्रमाण क्या है? अब इसका प्रमाण कौन देगा? वे क्या इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु हैं कि उन्हें इन्द्रियों के द्वारा प्रमाणित किया जायेगा? ऐसा नहीं हो सकता। उपनिषद् कहते हैं – वह वस्तु नेत्र के द्वारा देखी नहीं जा सकती, कान के द्वारा सुनी नहीं जा सकती और मन के द्वारा मनन नहीं की जा सकती। जो इन्द्रियातीत है उन्हें नेत्र तथा कानों का विषय बनाकर देखने का प्रयास निरर्थक है। इन्द्रियों की सहायता से उनका कभी साक्षात्कार नहीं हो सकता। अर्जुन चर्म-चक्षुओं से नहीं, बल्कि भगवान से दिव्य-चक्षु पाने के बाद ही विश्वरूप-दर्शन कर सके थे। दिव्य-चक्षु का अर्थ है कि नेत्रों के ऊपर माया का आवरण नहीं है। जो नेत्र अज्ञान से आवृत्त नहीं है, उन्हीं के द्वारा आत्मवस्तु का दर्शन हो सकता है। ❖ (क्रमशः) ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन सैंतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

रामायण में किसी भी पात्र को इस रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है कि उसके जीवन में कोई समस्या या कोई मनोरोग न हो, बल्कि इस रूप में प्रस्तुत किया गया कि परिस्थिति आ पड़ने पर विशिष्ट-से-विशिष्ट व्यक्ति के जीवन में भी ऐसे दोष या समस्याएँ आ जाती हैं। समाज में मन के रोगों तथा बुराइयों की चर्चा बड़े व्यापक रूप में की जाती है। जिस सभा में देखिए, जिस मंच पर देखिए – सर्वत्र यही चर्चा हो रही है कि समाज में कितना भ्रष्टाचार है, कितनी बुराई है, कितना अन्याय है। परन्तु बड़ी विचित्र बात तो यह है कि इतनी चर्चा होने के बाद भी बुराई मिटती नहीं है, बल्कि बढ़ती जाती है। इसका रहस्य क्या है?

प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि बस मुझे छोड़कर बाकी सबमें बुराई है। अब बुराई मिटे कैसे? हर आदमी दूसरों की बुराई दूर करने की चेष्टा करता है, जबकि क्रम उल्टा है। भाई, किसमें कितनी बुराई है, यह बताने से काम नहीं चलेगा। पहले तो देखना होगा कि हममें बुराई कहाँ है और उसे दूर करने की चेष्टा करनी है। जितनी समस्याएँ समाज में उत्पन्न हुई हैं या दिखाई दे रही हैं, वे सब दूसरों के द्वारा उत्पन्न की गई हैं, यह कहनेवाले तो सभी हैं, परन्तु यह कहनेवाले लोग दिखाई नहीं देते कि इन समस्याओं के मूल में मेरा कितना योगदान है, मैं उसमें कितना भागीदार हूँ? परन्तु 'मानस' की परम्परा क्या है, समाज की समाज की स्वस्थता का क्रम क्या है, विश्लेषण करने की शैली में क्या अन्तर है?

नारदजी से यही भूल हो गयी थी। जिस समय नारदजी ने काम-क्रोध-लोभ को जीत लिया, बुराइयों को जीत लिया और यह समझ बैठे कि उन्होंने सारी बुराइयों को सदा के लिये जीत लिया है। यह फिर वही सजगता का प्रसंग है कि बहुत बड़ी बुराई को जीत लेने का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह सदा के लिये जीत लिया गया। पर होता यही है। कभी क्रोध आने की परिस्थिति में भी कुछ देर के लिये हमें क्रोध नही आता, तो हम लोग इसको इतना अधिक महत्व देते हैं कि जैसे हमने क्रोध को सदा के लिये जीत लिया। पर गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं कि जीवन के दूसरे पक्ष पर भी तो थोड़ी दृष्टि डालें। एक बार हम काम से, क्रोध से, लोभ से बच जायँ, पर कितनी बार बच नहीं पाते, इस पर यदि हमारी दृष्टि पड़े, तो हमारे जीवन में सजगता की वृत्ति उत्पन्न होगी। नारदजी ने अपने जीवन में काम-क्रोध-लोभ को जीत लिया, पर अन्त में अहंकार से ग्रस्त हो गये। क्यों? बात छोटी-सी थी। मानो कोई स्वस्थ व्यक्ति छोटी-सी कुपथ्य कर ले और अगले ही क्षण कोई रोग पैठ जाय। कामदेव ने चलते चलते नारदजी को प्रणाम करके यह कुपथ्य दे दिया था। कौन-सा कुपथ्य? वही जो बहुधा समाज में मिलता रहता है। जब कामदेव नारदजी से बहुत प्रभावित हुए, तो जाते समय नारदजी के चरणों में प्रणाम करके कह दिया – महाराज, विश्व के इतिहास में इतने बड़े बड़े महापुरुष हुए, पर आपके समान कोई नहीं हुआ। बस, यह प्रशंसा का एक नन्हा-सा वाक्य, यह कुपथ्य नारदजी पचा नहीं सके। इसीलिये तो गोस्वामीजी ने अहंकार की तुलना डमरुवा रोग से की है –

अहंकार अति दुखद डमरुआ। ७/१२१(क)/३५

डमरुवा रोग में पचता नहीं है। इसीलिये भक्त लोग कहते हैं कि जितनी प्रशंसा करनी हो भगवान की ही करो, मनुष्य की नहीं। भगवान बोले – भाई, तुम लोग जब प्रशंसा से इतना डरते हो, तो मेरी इतनी प्रशंसा क्यों करते हो? भक्तों ने कहा – महाराज, आपमें पचाने की बड़ी शक्ति है। अनादि काल से बड़े बड़े ऋषि-मुनि आपकी इतनी प्रशंसा करते आ रहे हैं, पर आप ज्यों-के-त्यों हैं। आपमें इसे पचाने की शक्ति है।

नारदजी में प्रशंसा पचाने की शक्ति नहीं थी। नारदजी ने अपना मूल्यांकन यह सोचकर किया कि मैं थोड़े ही कह रहा हूँ कि मैं संसार में सबसे बड़ा हूँ; जो मेरा विरोधी बनकर मुझे गिराने आया था, जब उसी ने मुझे प्रमाणपत्र दे दिया, तो फिर इससे बढ़कर मेरी महानता का प्रमाणपत्र और क्या हो सकता है? उनके मन में जब यह वृत्ति आई, तो वे सोचने लगे कि सबसे पहले किसके पास जायँ? यही इसका मनोविज्ञान है। नारदजी ने सोचा कि सबसे पहले शंकरजी के पास जाना चाहिये। भगवान विष्णु के पास क्यों नहीं गये? क्योंकि शंकरजी काम के विजेता के रूप में प्रसिद्ध हैं। नारदजी ने सोचा कि मैंने तो काम-क्रोध-लोभ – सबको जीत लिया है, चलकर थोड़ा उनको अपनी विजयगाथा सुनाकर देखूँ कि उन्हें

प्रसन्नता होती है या मेरे प्रति ईर्ष्या होती है। इसका अर्थ क्या हुआ? मानो वे शंकरजी की परीक्षा लेने पहुँचे। शंकरजी ने उनका स्वागत किया और प्रसन्न भाव से बोले – महाराज, कुछ रामकथा सुनाइये। नारदजी ने कहा – रामकथा तो हम सुनाते ही रहते हैं, आज नई कथा सुनाते हैं। रामकथा तो पुरानी हो गई। नई कथा क्या है? किस तरह काम अप्सराओं को लेकर आया और मैंने काम-क्रोध-लोभ को जीत लिया। कथा के समय वक्ता का ध्यान इस ओर रहता है कि श्रोताओं पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है! वे भी शंकरजी की ओर ध्यान से देखने लगे कि उन पर क्या प्रभाव पड़ा? शंकरजी ने तो बड़े सरल हृदय से अपने मन की बात कह दी –

जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ ।। १/१२७/७-८

पूरे रामायण में शायद इतने थोड़े शब्दों में किसी वक्ता की इतनी कटु आलोचना नहीं मिलेगी। आप यदि किसी वक्ता से यह कह दें कि आज आपने जो कथा सुनाई, वैसी कथा फिर कभी न सुनाइयेगा, तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि वक्ता की बात इतनी खराब थी कि वह दुहराने योग्य नहीं है। शंकरजी ने यही कहा। तब नारदजी के ऊपर इसका क्या प्रभाव पड़ा? शंकरजी की बात सुनकर नारदजी मन-ही-मन खूब हँसे। क्यों? सोचा – "मै तो पहले ही जानता था कि मेरी विजय की बात सुनकर शंकरजी को मुझसे ईर्ष्या हो जायेगी। देखो, कितना ईर्ष्या हो गई? चाहते है कि मेरा प्रचार न हो। ठीक है, मैं इनसे क्यो कहूँ कि मैं अपनी विजयगाथा का प्रचार करूँगा?" इसके बाद बुराइयों का चक्र चला, एक एक कर उनमें बुराइयाँ आती गईं। 'मानस' में इसका विश्लेषण बड़ी वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। कैसी कैसी बुराइयाँ किस किस प्रकार आती हैं, इसका सारा क्रम नारदजी के जीवन में मिल जाता है। पर उसका अन्तिम समाधान नारदजी का विनाश नहीं है, बल्कि अन्त में जब नारदजी पूरी तरह से रोगग्रस्त हो जाते हैं, तब दो बातें आती हैं। यहाँ भी गोस्वामीजी ने उन दोनों के सामंजस्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। कागभुशुण्डि जी जानते हैं कि मन के रोगों को मिटाने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है। वे क्या हैं? एक ओर तो उन्होंने उपाय बताया – वैद्य कैसा हो, दवा कैसी हो, पथ्य कैसा हो और किस प्रकार से रोग दूर होगा? मन के रोगों को दूर करने के सारे उपाय बताए, पर साथ ही एक वाक्य जोड़ दिया। उन्होंने जो कहा उसमें एक बड़े काम की बात है। वे बोले –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा।
जौ एहि भाँति बनै संयोगा ।। ७/१२२(क)/५

यदि भगवान की कृपा से ऐसा संयोग बने, तो उनके द्वारा रोग दूर हो सकते हैं। इसका अर्थ क्या है? 'मानस' का मूल दर्शन यही है। आज भी यह विवाद चलता है – पुरुषार्थवादी लोग पुरुषार्थ की प्रशंसा करते हैं। हमारे यहाँ न जाने कितने ग्रन्थ हैं, जिनमें पग पग पर पुरुषार्थ की प्रशंसा की गई है। योगवाशिष्ठ को उठाकर पढ़िये, तो उसमें आपको पुरुषार्थ का प्रतिपादन मिलेगा। वैसे अन्य अनेक ग्रन्थ हैं और साथ ही भाग्य का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों की भी कमी नहीं है। महाभारत को उठाकर पढ़िये, उसमें भाग्य तथा नियति की अटलता की ओर बारम्बार ध्यान दिलाया गया है। व्यासजी से पूछा गया – महाराज, ऐसा क्यों हुआ? वे कहते हैं – यही नियति है; यह होना ही था। ऐसी परिस्थिति में विवाद खड़ा हो जाता है कि पुरुषार्थ सत्य है या नियति?

गोस्वामीजी ने इसको सामंजस्य के रूप में प्रस्तुत किया है। यह 'मानस' की शैली है। इसमें गोस्वामीजी ने एक बड़ा मोहक सूत्र चुना है। वह सूत्र यह है कि कागभुशुण्डि जी कथा सुना रहे हैं और गरुड़जी सुन रहे हैं। दोनों ही पक्षी हैं, परन्तु चुनाव करते समय बड़ी चतुराई की गयी। कथावाचक एक जाति का पक्षी है और श्रोता दूसरी जाति का। इतना ही नहीं, शंकरजी ने पार्वतीजी से कहा – वहाँ जाकर मैंने जो दृश्य देखा, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। एक वटवृक्ष के नीचे कौआ कथा कह रहा था और आश्चर्य की बात यह थी कि वहाँ हंसगण कथा सुन रहे थे –

सुनहिं सकल मति बिमल मराला ।। ७/५७/९

पक्षियों के राजा गरुड़, पक्षियों में परम वन्दनीय माने जाने वाले हंस और पक्षियों में सबसे निकृष्ट कोटि का कौआ। इन तीनों में सामंजस्य के पीछे गोस्वामीजी का उद्देश्य क्या है? वे मानो बताना चाहते हैं कि संसार में आकाश में उड़नेवाले पक्षी तो दिखाई दे रहे हैं, पर जो अगणित व्यक्ति दिखाई दे रहे हैं, वे भी शरीर से न सही, पर मन से तो पक्षी ही हैं। यदि गहराई से विचार करके देखें, तो लगेगा कि ये सारे लोग पक्षी ही हैं। 'मानस' में गोस्वामीजी पक्षी शब्द के दो अर्थ देते हैं। पक्षी के एक अर्थ यह है कि जिसके पंख हैं और दूसरा अर्थ है – किसी मान्यता या सिद्धान्त में पक्षपात। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिसके मन में किसी-न-किसी मान्यता के प्रति पक्षपात न हो। इस दृष्टि से सभी पक्षी हैं। अब प्रश्न उठता है कि इनमें से कौन-सा पक्षी श्रेष्ठ है और कौन-सा निकृष्ट? फिर झगड़ा शुरू होगा। सभी कहेंगे कि मेरी मान्यता, मेरा पक्ष ही श्रेष्ठ है और दूसरों का गलत।

'मानस' में एक बड़ी मधुर बात कही गई। लोमसजी क्रुद्ध हो गये। लोमस मुनि थे और भुशुण्डिजी ब्राह्मण। भुशुण्डिजी ने प्रश्न किया और लोमसजी उत्तर देने लगे। दोनों के पक्ष कुछ अलग अलग थे, मान्यताएँ अलग अलग थीं। लोमसजी ज्ञान के पक्षपाती थे और भुशुण्डिजी भक्ति के। दोनों पक्षों में

विवाद हो गया। एक मानते हैं कि ज्ञान श्रेष्ठ है और दूसरे मानते हैं कि भक्ति श्रेष्ठ है। लोमसजी को लगा कि भुशुण्डि पक्षपाती है – पक्षी है। अब यदि लोमसजी से कोई पूछे कि क्या आप पक्षपाती नहीं हैं? पक्षी तो वे भी हैं, पर वे कहेंगे कि पक्षी हूँ पर हंस हूँ, कोई कौआ-वृत्तिवाला थोड़े ही हूँ। मैं हंस हूँ अर्थात् श्रेष्ठ हूँ और कौआ-वृत्ति अर्थात् निकृष्ट। स्वयं को हंस के समान श्रेष्ठ समझना।

हंस की श्रेष्ठता क्या है? जब किसी की निष्पक्षता की प्रशंसा की जाती है, तो उसकी तुलना हंस से की जाती है। लेकिन हंस भी क्या सचमुच निष्पक्ष होता है? हो ही नहीं सकता। – क्यों? – इसलिए कि जब दूध और पानी को मिलाकर रख दिया जाता है, तो हंस उसमें से दूध को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है। अब वह पक्षपाती हुआ या नहीं? यदि वह दूध और पानी को अलग अलग कर देता, तब तो वह निष्पक्ष होता, परन्तु एक को पी जाना तो पक्षपात ही हुआ। इस प्रकार सभी पक्षपाती हैं और जहाँ सभी पक्षपाती हैं, वहाँ झगड़ा-विवाद तो होगा ही। इस विवाद को संवाद में कैसे बदलें? यह कला है। लोमसजी तथा भुशुण्डिजी में पहले विवाद हो गया। उन्होंने भुशुण्डिजी को शाप दे दिया –

सठ स्वपच्छ तव हृदयँ बिसाला।
सपदि होहि पच्छी चंडाला।। ७/११२(क)/१५

भुशुण्डिजी कौआ हो गये और लोमसजी के चरणों में प्रणाम करके जाने लगे। लोमसजी बड़े विचारक थे। पक्षपात से व्यक्ति में आग्रह कुछ अधिक बढ़ जाता है, लोमसजी के साथ भी ऐसा ही हुआ, पर उन्होंने देखा – अरे, यह तो मेरे शाप के बाद भी इतने शान्त भाव से प्रणाम करके जा रहा है! बड़े आदर से उन्होंने भुशुण्डिजी को बुला लिया –

सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई। ७/११३(क)/५

वे कहने लगे – भाई, मैं तुमसे सहमत हो गया। दोनों में संवाद हो गया। पहले विवाद दिखाई दिया। पहली दृष्टि से यदि देखें तो ज्ञान और भक्ति में विवाद दिखाई देगा, लेकिन यदि बाद में विचार करके देखें, तो ज्ञान और भक्ति में विवाद न होकर संवाद होगा। ऐसा लगेगा जैसे भक्ति ज्ञान का पूरक है और ज्ञान भक्ति का। यह सामंजस्य है। इस प्रकार लोमसजी से दीक्षा लेकर भुशुण्डिजी कौआ होकर उड़ गये।

यह तो ठीक है, पर गुरु तो हंस ही रहा, ज्ञानी ही रहा और भक्त कौआ बन गया। यह तो मानना ही पड़ेगा कि अन्त में ज्ञान का पक्ष ही बड़ा है और भक्ति का छोटा। लेकिन भगवान ने क्या खेल किया? जब कौआ कथा सुनाने लगा, तो हंसों को सुनने भेज दिया। बोले – नहीं भाई, हंस कौए से भी प्रेरणा ले सकते हैं। इसलिये रामायण में एक सांकेतिक भाषा है। एक ओर ऐसे पक्षी हैं जिनके नाम हैं –

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा।। १/२२७/६

बाग में चातक, कोकिल, कीर, चकोर, मोर आदि हैं।

जनु चातकी पाइ जलु स्वाती। १/२६३/६

सीताजी मानो चातकी हैं। और लक्ष्मणजी चातक हैं –

रामहि लखनु बिलोकत कैसें।
ससिहि चकोर किसोरकु जैसें।। १/२६३/७

जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ कोयल हैं –

कहहिं परसपर कोकिल बयनीं।
एहि बिआहँ बड़ लाभु सुनयनीं।। १/३१०/७

इस प्रकार कोई कोयल हैं, कोई चातक हैं, तो कोई तोता – सभी पक्षियों के नाम हैं। पर गोस्वामीजी को तब तक सन्तोष नहीं हुआ, जब तक कि सबसे निन्दनीय समझे जानेवाले पक्षी का भी सदुपयोग नहीं हो जाता। वह पक्षी था गीध। गीध अत्यन्त निन्दनीय पक्षी है, उसका स्वभाव घृणित है –

गीध अधम खग आमिष भोगी। ३/३३/२

गीध का जीवन चाहे जितना भी दूषित रहा हो, उसे इतना बड़ा सौभाग्य मिल सकता है कि अन्त में वह न्याय का पक्ष लेते हुए रावण को चुनौती देकर, वह अपने जीवन को सार्थक कर ले। उसने पक्ष किसका लिया? रावण ने सीताजी को बन्दिनी बनाकर कष्ट में डाल दिया। तब उनका पक्ष लेनेवाला कोई नहीं मिला। ऊँचे पक्षी पिछड़ गये, लेकिन सबसे नीच माने जानेवाले पक्षी ने तुरन्त रावण को चुनौती दिया –

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा।
करिहउँ जातुधान कर नासा।। ३/२९(क)/९

अन्याय न सह पाना, रावण को चुनौती देकर श्रीसीताजी को बचाने की चेष्टा करना, इससे बढ़कर पक्षपात का सदुपयोग और क्या हो सकता है? उन्होंने अपने पक्षी जीवन का सदुपयोग किया। किसी ने गीध से पूछ दिया – भाई, पक्ष लेने से तुम्हें क्या मिला? तुम्हारे पक्ष तो रावण ने काट दिये। वे किसी काम के नहीं रहे। गीध ने कहा – नहीं, नहीं, बहुत बड़ा लाभ हुआ। – क्या? बोले – जब पंख था, तब तक मुझको उड़कर भगवान के पास जाना पड़ता था, पर पंख कट जाने के बाद भगवान को ही चलकर मेरे पास आना पड़ा। अब इससे बढ़कर लाभ और क्या होगा?

और अन्त में कौआ है, जो गरुड़जी को कथा सुना रहा है। कौआ भी बड़ा निन्दनीय माना जाता है, पर 'मानस' में कहा गया कि ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः कौए को भी ऐसी स्थिति में लाया जा सकता है कि वह महानतम भक्त बनकर संसार को भक्तिरस प्रदान कर सके। यह जो पक्षियों के पक्ष का सदुपयोग है, इसका अभिप्राय यह है कि 'मानस' में जो विविध पात्र हैं, उनके सन्दर्भ में गोस्वामीजी का मूल दर्शन यह

है कि इनको पढ़कर हमे ऐसा लगे कि हम भी तो एक पक्षी ही है और हमारे पक्षी होने की सार्थकता यही है कि जब हम स्वयं को रामकथा के इन पक्षियों मे एक अनुभव करें।

रामायण में अनेक पात्र हैं। उन सब पात्रों को लेकर ही रामकथा का विस्तार है। पर रामकथा की सार्थकता क्या है? जब तक आप पढ़ते हैं कि भरतजी, लक्ष्मणजी, हनुमानजी, सुग्रीव, विभीषण, रावण, कुम्भकर्ण आदि इसके पात्र हैं, तब तक समझिए कि रामायण को आपने अधूरा पढ़ा। इसके पात्रों की समग्रता तब है, जब आप इस निर्णय पर पहुँच जायें कि हम स्वयं भी इसके एक पात्र हैं। रामायण का पात्र बन जाना ही इसके पात्रों को समझने की समग्रता है। गोस्वामीजी की शैली की मिठास पर आप ध्यान देंगे, तो आप इसमें यही पायेंगे। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' क्यों लिखी? 'गीतावली' और 'कवितावली' क्यों लिखी? इन ग्रन्थों में भी तो उन्हीं लीलाओं का वर्णन हैं। पर नहीं, आपको इनमें बहुत बड़ा अन्तर मिलेगा। रामायण में भगवान राम बालक के रूप में दशरथ के आँगन में खेल रहे हैं –

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी ।। १/११२/४

कवितावली में भी गोस्वामीजी भगवान राम के बाल-लीला का वर्णन करने लगे – उनकी मुस्कुराहट कैसी है, घुँघराले बाल कैसे हैं, आदि। यह सब कवितावली में भी 'मानस' जैसा ही है। पर यहाँ गोस्वामीजी ने एक नई बात जोड़ दी। 'मानस' में तो नन्हें-से राम – चारों भाई दशरथजी के आँगन में खेल रहे हैं, पर कवितावली में वे कहाँ खेल रहे हैं –

अवधेस के बालक चारि सदा,
'तुलसी' मन-मन्दिर में बिहरैं। १/३

दशरथजी के आँगन में विहरेंगे, तो हमारे किस काम के? जब तक वे हमारे मन के आँगन में नहीं बिहरेंगे, तब तक हमे उनका सुख कैसे मिलेगा? तात्पर्य यह कि जब हम 'दशरथ अजिर बिहारी' को मन-मन्दिर का बिहारी बना लेंगे, तभी रामायण की समग्रता को सच्चे अर्थों में जीवन में समझ लेंगे।

रामायण के विविध पात्रों के माध्यम से गोस्वामीजी ने बड़ी कुशलता से और बड़े ही श्रेष्ठ रूप में जीवन का समग्र चित्र अंकित किया है। मनुष्य के जीवन में बुराई कैसे आती है और उसे दूर करने का उपाय क्या है, यह चित्र उन्होंने नारदजी के चरित्र के माध्यम से बड़ा सूक्ष्म और बड़े विस्तार से सबके सामने रखा। इस कार्य के लिये नारदजी को चुनकर मानो वे यही बताना चाहते हैं कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति के जीवन में भी यह बुराई आ सकती है। नारदजी इतने महान् व्यक्ति होते हुए भी कैसे अभिमान के चक्र में फँस गये, पर अन्त में गोस्वामीजी दोनों पक्षों का – नियति और पुरुषार्थ का सामंजस्य करते है और यही सम्पूर्ण रामायण का दर्शन है। दोनों पक्षों में अन्ततः संवाद उत्पन्न कीजिए। पुरुषार्थ कीजिए, परन्तु यह अभिमान मत पाल लीजिए कि पुरुषार्थ ही से सब हो जायेगा। सर्वदा स्मरण रहे कि भगवान की कृपा के बिना पुरुषार्थ सफल नहीं होगा। कृपा और पुरुषार्थ का सामंजस्य – 'मानस' का सर्वत्र यही दृष्टिकोण है। विभीषणजी ने जब समुद्र पार होने का उपाय बताया, तो भगवान राम ने उसमें जोड़ दिया –

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
करिअ दैव जौं होइ सहाई ।। ५/५१/१

वे बोले – मित्र, तुमने उपाय तो बहुत अच्छा बताया, अब यदि दैव सहायक होगा, तो वही करेंगे। रामायण में दूसरा पक्ष भी है। लक्ष्मणजी ने दैववाद का विरोध करते हुए कह दिया – यह दैव तो आलसियों के लिए है –

कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा ।। ५/५१/४

परन्तु भगवान हँसते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? – यह ठीक है कि लोग आलसी न बनें, पर इतने अभिमानी भी न बन जायँ कि वही एक समस्या बन जाय। दोनों प्रकार की प्रतिक्रिया है। एक ओर कुछ लोग अत्यधिक प्रमादी और आलसी हैं, तो दूसरी ओर उतने ही अभिमानी। हमें आलस्य और अभिमान दोनों से बचना है। अभिमान के साथ भगवत्कृपा को जोड़कर ही हम उससे बच सकेंगे। नारदजी के जीवन में जब इन दोनो का सामंजस्य हुआ, तभी उनका हित हुआ। उनके द्वारा उपाय पूछने पर भगवान ने कहा –

जपहु जाइ शंकर सत नामा। १/१३८/५

भगवान शंकर के नाम का जप करो। वहीं से शुरू करो, जिनको तुमने ईर्ष्यालु मान लिया था, उन्हीं शंकरजी के नाम का जप करो। भगवान स्वयं नारदजी से अत्यन्त प्रेम करते हैं। यदि वे कृपा करके नारद को बुराइयों से बचाने के लिए उन्हें बन्दर की आकृति न दे देते, तो परिणाम यह होता कि उन दुर्गुणों के द्वारा नारद का पूरी तौर से विनाश हो जाता।

'मानस' की यह मान्यता है कि आदि से अन्त तक, छोटे से लेकर बड़े तक – सबके जीवन में यह मानस-रोगों की समस्या है। कहीं उसे लीला के रूप में स्वीकार किया गया है तो कहीं भगवान की प्रेरणा के रूप में। तत्पश्चात् कैसे भगवत्कृपा और वैद्यरूप साधनों के द्वारा उनका निराकरण होता है – इन दोनों का सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ के सान्निध्य में (५७)

श्री प्रबोध तथा श्री मणीन्द्र

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे हैं । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है उसी ग्रन्थ के प्रथम भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

२३ अप्रैल, १९१९

भक्तगण माँ को प्रणाम करके चले गये । नारायण अयंगार ने माँ से कहा, "माँ, (माकू के पुत्र के निधन के कारण) इस समय आपके मन में अशान्ति है, इसलिये मैंने सोचा है कि शीघ्र लौट जाऊँ ।"

माँ बोलीं, "सुख-दुःख भला कहाँ जायेंगे! वे तो रहेंगे ही । तुम्हें उनसे क्या? तुम अभी रहो । ज्येष्ठ (मई) माह की चौथी या पाँचवीं तिथि को जाना ।"

सोमवार, १२ ज्येष्ठ (मई-जून, १९१९)

स्वामी शान्तानन्द और स्वामी हरानन्द वाराणसी से आए हैं । मणीन्द्र भी पुनः आये हुए हैं । सुबह शान्तानन्द और मणीन्द्र आदि माँ को प्रणाम करने गये थे । भक्तगण कोयलपाड़ा मठ में और माँ 'जगदम्बा आश्रम' में ठहरे हैं ।

शान्तानन्द – माँ, आपका स्वास्थ्य कैसा है?

माँ – ठीक ही हूँ ।

एक क्रान्तिकारी युवक जेल से छूटकर कल यहाँ आया । पुलिस के झंझट के भय से भक्तों ने तत्काल उसे विदा कर देने का प्रयास किया था । माँ को पूछने पर उन्होंने कहा, "उसे रहने दो; आज रहे कल चला जायेगा ।" स्वामी केशवानन्द ने उसे मठ में न रखकर कहीं अन्यत्र रखा था । क्योंकि उन दिनों चौकीदार हर रात आकर नवागत भक्तों के नाम-धाम लिखकर ले जाता था । अगले दिन माँ उसके बारे में पूछने लगीं, "वह लड़का कहाँ है? चला गया क्या?"

मणीन्द्र – वह है । आज खा-पीकर जायेगा ।

माँ – (शान्तानन्द को) वह रात में कहाँ रहा?

शान्तानन्द – पता नहीं माँ, हम लोगों को बताया नहीं ।

माँ – यहाँ जब वर्षा होती है, वाराणसी में भी क्या उसी समय वर्षा होती है?

शान्तानन्द – नहीं माँ, वहाँ सावन के महीने में वर्षा आरम्भ होती है । परन्तु कभी कभी वैशाख में भी आँधी-पानी आकर आम की फसल को बरबाद कर देती है ।

"माँ, वाराणसी में मरने की इच्छा से जानी वाली वृद्धाओं को बड़ा कष्ट होता है । घरवाले कभी कभी रुपया भेजना बन्द कर देते हैं । उन्हें नीचे के सीलन-भरे अँधेरे कमरों में रहना पड़ता है ।"

माँ – हाँ, जब मैं वहाँ के वंशीदत्त के मकान में थी, तो मैंने वृद्धाओं को बड़े कष्ट में देखा था । वे भिक्षा करके थोड़ा-सा चावल लाकर उसे भिगाकर बिना पकाए ही खा जाती थीं ।

शान्तानन्द – वृद्धाएँ वहाँ मरने जाकर दीर्घजीवी हो जाती हैं ।

माँ – विश्वनाथ के दर्शन-स्पर्शन से पाप-क्षय होता है । इसी से वे दीर्घजीवी होती हैं । वृन्दावन में शंख का पानी शरीर पर छिड़कते हैं और प्रसाद खिलाते हैं, इसीलिये वे दीर्घजीवी होती हैं ।

अब माँ राधू के बारे में कहने लगीं, "राधू थोड़ा चलने-फिरने लगे तो अच्छा हो । कमरे में ही शौच आदि कर रही है । मुझे और कितने दिन इस प्रकार रखेंगे, ठाकुर क्या करेंगे, कुछ समझ में नहीं आता!"

माँ स्वामी शान्तानन्द को माकू के बच्चे के बारे में कहने लगीं, "शोक मनुष्य को जितना अभिभूत कर देता है, उतना और कुछ भी नहीं कर सकता! शरत् को भी उसके लिये बड़ा कष्ट हुआ है । 'कालो' दवा लाने के लिये कलकत्ते गया था । इन लोगों ने उसे कह दिया था कि वह शरत् के साथ भेंट न करे । मैंने कहा, 'कलकत्ते जायेगा और शरत् के साथ भेंट नहीं करेगा – यह कैसी बात'?"

मणीन्द्र – हाँ, शरत् महाराज ने लिखा था – कालो सीधा मेरे पास आए ।

माँ सब्जी काट रही थीं । चेलो (नामक सब्जी) को देखकर शान्तानन्द जी ने कहा, "यह कलकत्ते में नहीं मिलता ।"

माँ – इसकी तरकारी बनती है, चटनी में भी डाला जा सकता है, ठण्डी तासीर है, बड़ी अच्छी चीज है । (मणीन्द्र से) जहानाबाद में मिलता है क्या?

मणीन्द्र – हाँ, माँ ।

स्वामी शान्तानन्द ने माँ के समक्ष देश की दुःख-दुर्दशा का प्रसंग उठाया ।

शान्तानन्द – सुना है कि इन्फ्लूएंजा से साठ लाख लोग

मर गये। धान-चावल आदि महँगे हो गये हैं – लोगों को बड़ा कष्ट है।

माँ – हाँ बेटा। लोगों को खाने को नहीं मिल रहा है, और जिनके घर मे बाल-बच्चे हैं, उन्हें तो और भी कष्ट है। अभी तो कष्ट आरम्भ ही हुआ है। वर्षा के बाद धान-चावल होने पर ही तो कष्ट जायेगा। सुना है कि जहाँ का धान-चावल है वहीं रहेगा, ऐसा कानून बनाने के लिये कलकत्ते में एक साहब आया था, वह शायद लौट भी गया है।

मणीन्द्र – वैसा प्रयास तो चल रहा है।

शान्तानन्द – लोगों का कष्ट तो दिन-पर-दिन बढ़ रहा है। देश मे इतना कष्ट है! यह क्या कर्मफल है, माँ?

माँ – इतने लोगों का भला कर्मफल कैसे हो सकता है? लगता है कहीं गड़बड़ है।

शान्तानन्द – युद्ध समाप्त हो गया है, तो भी चीजें सस्ती क्यो नही हो रही हैं?

माँ – परन्तु लोग तो कहते हैं कि युद्ध फिर हो रहा है?

शान्तानन्द – वह तो यहाँ – काबुल में हो रहा है। इतना सब दुःख-कष्ट, युद्ध-विग्रह! यह क्या है माँ, क्या फिर युग-परिवर्तन होगा?

माँ – (हँसते हुए) कैसे कहूँ? उनकी इच्छा से क्या होगा, यह मैं कैसे जानूँगी? राजा के पाप से राज्य नष्ट होता है। ईर्ष्या, दुष्टता, ब्रह्म-हत्या – यही सब पाप है; राजा के पाप से प्रजा को कष्ट तथा युद्ध, भूकम्प, अकाल आदि दैवी-उत्पात सहन करने पड़ते हैं। सभी लोगों के थोड़े नरम पड़ जाने से युद्ध रुक जाता है।

"अहा, भारतेश्वरी (विक्टोरिया) कैसी थीं! लोग कितने सुख-स्वाच्छन्दपूर्वक थे! (परन्तु) अब तो एक पाँच साल का लड़का भी दुःख की बात समझता है, कहता है कि मेरे पहनने के कपड़े नही हैं! अच्छा, शरत् ने यहाँ जो चावल बाँटने की व्यवस्था की है, उसमें से कितने चावल का वितरण हुआ?"

मणीन्द्र – यह तो नहीं बता सकता, परन्तु हर सप्ताह चौंतीस रुपयों का चावल दिया जाता है।

माँ – कितना कितना मिलता है?

मणीन्द्र – प्रति व्यक्ति एक पाव के हिसाब से।

माँ – हर आदमी को कितना मिला?

मणीन्द्र – छह सेर, सात सेर, आठ सेर – जिसके घर में जितने खानेवाले हैं।

माँ – कितने लोगों को मिला?

मणीन्द्र – ठीक पता नहीं, लेनेवालों में मुसलमान लड़कियाँ ही ज्यादा हैं।

माँ – हाँ, यहाँ मुसलमान लोग ही ज्यादा गरीब हैं। अच्छा, शरत् और कहाँ चावल बाँट रहा है?

मणीन्द्र – बाँकुड़ा, इन्दपुर, मानभूम। जहाँ अकाल है, वहाँ बाँट रहे हैं।

माँ – लड़के वहाँ जा रहे हैं?

शान्तानन्द – मठ से जा रहे हैं।

मणीन्द्र – इन्दपुर! सातू के वहाँ जाने की बात हुई थी।

माँ – सातू की बहन का सिहड़ में विवाह हुआ है।

मणीन्द्र – हाँ माँ, विवाह में सातू के न जाने से उसके माता-पिता ...

माँ – हाँ, बड़े दुखी हैं; सो तो होंगे ही, पर साधु-संन्यासी भला विवाह में कैसे जायेंगे? अन्य समय जा सकता है।

"प्रभाकर का लड़का अच्छा हो गया। लड़का होना भी एक पाप है। वे (ठाकुर) कहा करते थे – सारा संसार ही इन्द्रजाल है। इन्द्रजाल तो है, परन्तु इसका स्मरण नहीं रहता, यही दुःख की बात यह है।"

* * *

आसाढ़ (जून-जुलाई) की सोलहवीं तिथि को मणीन्द्र, प्रभाकर, श्यामबाजार के प्रबोध बाबू आदि माँ का दर्शन करने गये थे। प्रणाम करते ही माँ ने प्रभाकर से पूछा, "लड़का ठीक है न? बीमार पड़ा था।"

प्रभाकर – ठीक है!

माँ – तुम लोग कितनी देर पहले आए? भोजन हुआ?

प्रभाकर – हुआ है।

मणीन्द्र और प्रबोध बाबू अपनी बालिकाओं को निवेदिता स्कूल में भरती कराने के इच्छुक हैं।

वह प्रसंग उठाकर माँ से अनुमोदन की प्रार्थना करने पर वे बोलीं, "ठीक तो है, शरत् को लिखो।"

प्रबोधबाबू – उन्हें लिखा गया है।

स्त्री-भक्तों में से किसी ने कहा, "रह सकेंगी क्या? अभी तो वे बच्चियाँ हैं।"

माँ – खूब सकेंगी। वहाँ छह-सात साल की आयुवाली पूर्वी बंगाल की लड़कियाँ रहती हैं या नहीं? उनके माता-पिता लेने आने पर भी वे जाना नहीं चाहतीं।

प्रबोधबाबू – आज गाँव देखने गया था। लोगों को खूब कष्ट है। पहनने को कपड़े नहीं हैं, इसलिये हमारे सामने वे निकल तक नहीं सके। छप्पर के लिये खर तक नहीं है। (प्रबोध बाबू पंचायत के सरपंच थे)।

माँ – उन लोगों को चावल दिया गया क्या?

प्रबोधबाबू – कल रविवार को दिया गया था।

माँ – कपड़ा भी दिया जाता है क्या?

प्रबोधबाबू – चुन-चुनकर दिया जाता है। माँ, सुना है कि आपने एक स्वप्न देखा था, जिसमें एक महिला कलश तथा झाड़ू लेकर खड़ी थी!

माँ – हाँ, देखा कि एक महिला हाथ में एक कलश तथा झाड़ू लिये खड़ी है। मैंने पूछा – तुम कौन हो जी? वह बोली – मैं सब झाड़कर चली जाऊँगी। मैंने कहा – उसके बाद क्या होगा? वह बोली – इस कलश का अमृत छिड़कूँगी। लगता है वही सब हो रहा है। माँ के मुँह से सुना करती थी कि जब अकाल पड़ता है, तो एक-एककर लगातार तीन साल पड़ता है। दो साल तो हो गया है न?

मणीन्द्र – युद्ध तो बहुत दिनों से चल रहा है।

माँ – युद्ध तो चार-पाँच साल से हो रहा है। वह नहीं, अकाल के क्या दो वर्ष हो गये हैं? तो फिर एक वर्ष और होगा। इस समय धान की क्या दर होगी?

उन्हें उस अंचल के हिसाब से दर बता दिया गया।

माँ – इतनी कीमत? और बाकी चीजें – कपड़े, तेल आदि का भाव भी तो खूब चढ़ा है। जो लोग सम्पन्न हैं, उन्हें भी बड़ी चिन्ता हो रही है। अब तो यह हालत है कि 'तुम्हारा चमड़ा मैं खाऊँगा और मेरा चमड़ा तुम खाओगे'। वे जितना भी दु:ख-कष्ट दे रहे हैं, उसे तो सहज भाव से स्वीकार करना होगा। भगवान जो करेंगे, वही होगा।

प्रबोधबाबू – माँ, आपको जब इतना कष्ट भोगना पड़ रहा है, तो फिर अन्य लोगों का क्या होगा?

माँ – मुझे मानो पिंजड़े में बन्द करके रख दिया है! हिलने-डुलने या किसी ओर भागने का कोई उपाय नहीं है।

प्रबोधबाबू – कामारपुकुर में ठाकुर की जगह को लेकर फिर गड़बड़ी हो रही है।[१]

माँ – कौन गड़बड़ कर रहा है? महिम बाबू?

प्रबोधबाबू – नही, फकीर बाबू और हेम बाबू।

माँ – अच्छा, गड़बड़ी की क्या जरूरत है? बाड़ हटा लेने से क्या काम नहीं हो जाता?

प्रबोधबाबू – मैं तो चारों ओर खूँटे गाड़ आया हूँ। महिम बाबू तो रास्ते पर मिट्टी पड़ने से ही सन्तुष्ट हैं। हमें थोड़ा और आगे बढ़ाकर खूँटे गाड़ने चाहिए थे। उसके बाद उनके आपत्ति करने पर हम क्रमश: उसे खिसका लाते। वे जैसे व्यवसायी है, उनके साथ वैसी ही बुद्धि लगाने की जरूरत है।

माँ यह अद्भुत व्यवस्था सुनकर हँस पड़ीं।

१. ठाकुर के जन्मस्थान पर मन्दिर बनाने के लिये जो नई जमीन खरीदी गई थी, उसी के विषय मे उस समय गड़बड़ी चल रही थी।

प्रबोधबाबू – मैंने शरत् महाराज को लिखा है। वे जैसा कहेंगे, वैसा ही करूँगा।

माँ – पहले मजदूरी चार पैसे रोज थी। मुझे अब भी याद है, इतने बड़े कागज पर (पत्र) लिखकर कलकत्ते आदमी भेजा जाता था। वह पैदल जाता था। उस समय डाक-व्यवस्था नहीं थी।

प्रबोधबाबू – अब डाक होने से कुछ सुविधा हुई है, माँ।

माँ – सो तो हुआ है। पहले जो था, वही बता रही हूँ। एक रुपये में बहुत-सा तेल मिलता था। अब तो अँजली भर धान के लिये रुपये माँगता है। सब लोग धान बेच रहे हैं, रुपये ज्यादा मिल रहे हैं न! और जो थोड़ा-सा बच जाता है, उसे भी रख नहीं पाते, क्योंकि पेट की ज्वाला को सहा नहीं जा सकता है। खाना पड़ता है न!

"प्रसन्न (बड़े मामा) ने चार-पाँच सौ रुपये का धान बेच दिया। उसका कुछ धान चोरी भी हो गया था। राज घोष ने भी धान बेच डाला है। उसके यहाँ बहुत धान हुआ था। सुना है कि उसके यहाँ चिट्ठी आई थी – 'तुम इतने रुपये दो, नहीं तो तुम्हारे घर चोरी होगी।' उसने पुलिस को वह पत्र दिखाया था। लगता है गाँव के दुष्ट लोग ही ऐसा कर रहे हैं।"

मणीन्द्र और प्रबोधबाबू अगले दिन श्री माँ को प्रणाम करने गये। प्रबोधबाबू ने पूछा, "माँ, क्या बलपूर्वक संसार त्यागना ठीक है?"

माँ इस पर मुस्कुराते हुए तत्काल बोलीं, "लोग तो ऐसा ही कर रहे हैं जी।"

प्रबोधबाबू – महामाई की प्रसन्नता प्राप्त किये बिना यदि कोई अपने मन के मौज से संसार छोड़ता है, तो शायद उसे समस्या होती है।

माँ – घर लौट आता है।

* * *

मणीन्द्र – स्वामीजी (विवेकानन्द) ने भी बड़ा कष्ट उठाया था। परन्तु वे उन्हें पारकर गये – उनके शरीर को सह गया।

माँ – नहीं, उसे भी खूब भोगना पड़ा था, पेशाब की बीमारी थी। शरीर में हमेशा जलन होती रहती थी, तो भी परिश्रम करते करते उसके मुख से खून आ गया था।

मणीन्द्र – मुख से खून निकला था!

माँ – मुख से खून नहीं निकला, बल्कि उसने इतना परिश्रम किया था मानो खून निकल आया हो।

प्रबोधबाबू – सुना है स्वामीजी दार्जिलिंग मे हरि महाराज को गले लगाकर रोते हुए बोले थे, 'भाई, तुम लोग केवल तपस्या करते रहोगे और मैं अकेला प्राण निकाल रहा हूँ!'

माँ – हाँ बेटा, उसने दूसरों के लिये अपने शरीर का रक्त दिया था। नरेन ने ही तो बिलायत (अमेरिका) से लौटकर यह सब किया। इसी से तो लड़कों के खड़े होने के लिये थोड़ी-सी जगह हुई है। अब भी तो बिलायत में चार लड़के हैं?

प्रबोधबाबू – हाँ, स्वामी अभेदानन्द, स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी परमानन्द और स्वामी बोधानन्द।

माँ – काली का क्या नाम है?

मणीन्द्र – स्वामी अभेदानन्द।

माँ – वसन्त (स्वामी परमानन्द) यहाँ पत्र आदि लिखता है, रुपये-पैसे भी भेजता है। वहाँ व्याख्यान देता है। योगेन (स्वामी योगानन्द) ने बड़ी कठोरता की थी, तीर्थ में जाकर अँजली में जल पीया करता था। रोटियाँ सुखाकर चूर्ण बनाकर रख देता। उसी में से थोड़ा थोड़ा खाता। इससे उसके पेट में बीमारी हो गयी। इसी से कष्ट भोग भोगकर उसका शरीर चला गया। ... गृहस्थी में भी क्या सुख है? अभी है, अभी नहीं। संसार विष का वृक्ष है। विष जला डालता है। परन्तु जिन लोगों ने संसार कर लिया है, वे लोग अब क्या करेंगे! समझकर भी कुछ कर नहीं सकते।

भक्तगण प्रणाम करके (कोयलपाड़ा के) मठ में लौटे। मणीन्द्र और प्रबोध बाबू अपराह्न में पुनः श्रीमाँ के पास गये।

प्रबोधबाबू – माँ, शरत् महाराज ने पत्र का उत्तर दिया है, पढ़ूँ?

माँ – पढ़ो।

प्रबोधबाबू ने पत्र पढ़कर माँ को सुनाया। अन्य बातों के साथ यह भी लिखा था – "मेरी सहमति से क्या होगा! वीणा (प्रबोधबाबू की पुत्री) को यहाँ रखने के विषय में ठाकुर की इच्छा कुछ और ही है।"

माँ – अच्छा, ऐसी बात उसने क्यों लिखी, बताओ तो? बिल्कुल साफ लिख दिया है। लगता है सुधीरा की सहमति नहीं है। सुधीरा ने कहा था, 'माँ, अब मुझसे नहीं होता। मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है।' बालिकाओं के लिये वह कितना कष्ट उठाती है। जब खर्च नही चलता, तो बड़े लोगों की बच्चियों को गाना-बजाना सिखाकर महीने में चालीस-पचास रुपये ले आती है। स्कूल की लड़कियों को सिलाई करना, कुर्ता बनाना आदि सब सिखा दिया है। उस साल तीन सौ रुपयों का लाभ हुआ था। उन रुपयों से वे लोग पूजा के समय इधर-उधर गयी थीं। सुधीरा देवव्रत की (स्वामी प्रज्ञानन्द) की बहन है। वह स्वयं स्टेशन की आड़ में रहकर बहन को टिकट कटाना, अकेले गाड़ी में चढ़ना आदि सब सिखाया करता था।

"बीस-बाईस साल की दो अविवाहित दक्षिण भारतीय बालिकाएँ निवेदिता स्कूल में हैं। अहा! उन लोगों ने कैसा सब काम-काज सीख लिया है! और हम लोगों का! इस मुए अंचल के लोग आठ वर्ष की होते-न-होते कहने लगते हैं – 'शादी कर डालो, शादी कर डालो।' अहा! राधू का भी यदि विवाह न हुआ होता, तो क्या उसकी इतनी दुःख-दुर्दशा होती!" ❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण स्तुति

(तर्ज -'नमामि भक्तवत्सलम्')

नमामि हरि कृपामयम् । सुखाकरम् अनामयम् ।
भजामि कालिकासुतम् । विशुद्धभक्ति भावितम् ॥१॥

विहाय कामकांचनम् । रतं तु कालिकार्चनम् ।
समस्त-धर्मविग्रहम् । कृतं च आत्मनिग्रहम् ॥२॥

अनन्त भावमय प्रभुम् । जगद्गुरुं हरिं विभुम् ।
पवित्र सारदापतिम् । गदाधरं जगत्पतिम् ॥३॥

कृपावतार सद्गुरुम् । दयालु भक्त सुरतरुम् ।
विशुद्ध प्रेम चिद्घनम् । तपस्विनां परं धनम् ॥४॥

विशुद्ध बुद्धि गोचरम् । वितर्क बुद्धि गोपरम् ।
अहैतुकी कृपा-परम् । भजनप्रियं च सुरनरम् ॥५॥

सुखासनं विगतभयम् । धरं तनुं च चिन्मयम् ।
सुदर्शनं च हरिमयम् । भजामि योगितन्मयम् ॥६॥

समाधिवान लोचनम् । त्रिताप पापमोचनम् ।
स्वभाव-दोषनाशनम् । कुवासना-हुताशनम् ॥७॥

सुधर्मचक्र-चालकम् । समस्तसृष्टिपालकम् ।
मनोजदोष-नाशकम् । विमलमतिं प्रकाशकम् ॥८॥

अखण्डब्रह्म निर्गुणम् । निधिं समस्त सद्गुणम् ।
नरेन्द्र मार्गदर्शकम् । स्वभक्त-चित्तकर्षकम् ॥९॥

जगज्जननि सुतं वरम् । नमामि देवमक्षरम् ।
युगावतार ठाकुरम् । सुसेवितं च माथुरम् ॥१०॥

सुतीर्थ जाह्नवी प्रियम् । कुशाग्र मातृमय धियम् ।
विशुद्ध सत्त्व-गुणमयम् । निरंजनम् असंशयम् ॥११॥

स्वभक्त त्राण तत्परम् । सुवैद्य भवकलुष हरम् ।
प्रसन्न मुखछविं धरम् । प्रदेहि मे कृपा वरम् ॥१२॥
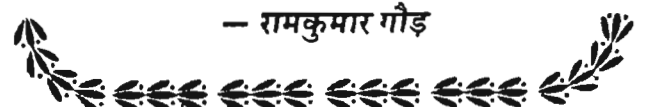
– रामकुमार गौड़

संस्कृत भाषा : नभ से उतरी वैदिक धारा

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित, वर्तमान काल के महानतम संस्कृत-विद्वानों में अग्रगण्य डॉ. वर्णेकर ने संस्कृत, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में बहुत-से मूल्यवान ग्रन्थों की रचना की है । उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान तीन खण्डों में प्रकाशित उनका 'संस्कृत-वाङ्मय-कोष' है । भारत सरकार द्वारा घोषित इस 'संस्कृत-वर्ष' के अवसर पर हम इस विशेष लेखमाला का प्रकाशन कर रहे हैं । – सं.)

संसार के सभी देशों के विद्वानों ने भारत के वेद-विषयक साहित्य को श्रेष्ठ तथा विश्व का सर्वाधिक प्राचीन वाङ्मय माना है । शोधार्थियों को धर्मशास्त्र, दर्शन, विद्या, कला आदि विविध सांस्कृतिक विषयों के मूलतत्त्व वैदिक साहित्य में ही दिखाई देते हैं । वेदों के महत्ता का वर्णन करते हुए 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' के विख्यात निर्माता डॉ. श्रीधर व्यंकटेश केतकर अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहते हैं, "वेद सब विद्याओं का उद्गम स्थान हैं – इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं । यूरोपीय विद्वानों ने भी यह बात स्वीकार की है कि भारतवासियों तथा अनेक यूरोपवासियों के सामान्य पूर्वजों की प्राचीनतम अवस्था की जानकारी देनेवाले साहित्य का अवशेष होने के नाते वेदों को वैश्विक साहित्य के इतिहास में प्रथम स्थान देना उचित है । हजारों वर्षों से कोटि कोटि भारतीय वेदों को 'ईश्वरीय वाणी' मानते आए हैं । भारतीय साहित्य में वेद ही प्राचीनतम होने के कारण भारतीयों का आध्यात्मिक जीवनक्रम और उनकी संस्कृति का यथार्थ ज्ञान उनका अध्ययन किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता । साथ ही इस कारण भी वेदों के प्रति पूज्यबुद्धि धारण करना हमारा कर्तव्य है कि वेदकालीन परिस्थितियों तथा तत्कालीन साहित्य के अवशेष को समझे बिना हमें अपने पूर्वजों की जानकारी नहीं होगी । यूरोपीय विद्वान् भी इस तथ्य को समझ गये हैं । चीन एवं जापान के पण्डितों को भी वेदाभ्यास की आवश्यकता है, क्योंकि भारत ही बौद्ध सम्प्रदाय की भी जन्मभूमि होने के कारण वेदों की जानकारी के अभाव में उस सम्प्रदाय का रहस्यज्ञान अर्थात् इतिहास सहित ज्ञान ठीक ठीक प्राप्त होना असम्भव होगा । नए विद्वानों को पुराना ज्ञान होना आवश्यक है । पश्चिम के ईसाई विद्वान् भी बाइबिल के 'नये नियम' (न्यू टेस्टामेंट) को समझने के लिए उसके पूर्वखण्ड रूप 'पुराने नियम' (ओल्ड टेस्टामेंट) का अध्ययन किया करते हैं । इसी प्रकार वेदकालीन धर्म और वेदोक्त तत्त्वों को ठीक से समझे बिना, हम यह नहीं जान सकते कि किन परिस्थितियों में आज के भारत में प्रचलित नवीन धर्मों तथा मतों का उद्गम हुआ ।"

ज्ञानकोशकार डॉ. केतकर जी के वेदविषयक उपरोक्त उद्धरण में वेदों के प्राचीन और आधुनिक विद्वानों के मतों का सार आ गया है; अत: यहाँ पर वेदों की महिमा पर अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है ।

धर्म का मूल

अति प्राचीन काल से ही हिन्दू जनमानस वेदों के विषय में परम श्रद्धा का भाव पोषित करता रहा है । बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद परमात्मा के नि:श्वास हैं – **अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदो अथर्वांगिरस:।** मनुस्मृति में कहा गया है कि वेद सर्वज्ञानमय हैं – **सर्वज्ञानमयो हि स: ।** और यह सम्पूर्ण धर्म का मूल है – **वेदो अखिलो-धर्ममूलम् ।** वेदों की निन्दा करनेवालों का 'नास्तिक' कहकर तिरस्कार व्यक्त किया जाता था – **नास्तिको वेदनिन्दक: ।**

विभिन्न विद्वानों ने विविध प्रकार से वेदों के लक्षण बताये हैं । वेदों के विख्यात भाष्यकार सायणाचार्य वेद की परिभाषा करते हैं – **अपौरुषेयं वाक्यं वेद:** अर्थात् अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते हैं । आगे चलकर वे कहते हैं कि जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता, उसका ज्ञान वेद द्वारा हो सकता है, इसी में वेद का वैशिष्ट्य है –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ।।

अन्यत्र उनका कहना है – **इष्टप्राप्ति-अनिष्टपरिहारयो: अलौकिकम् उपायं वेदयते स वेद:** – जिसके द्वारा अभीष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार का अलौकिक उपाय बताया जाता है, उसे वेद कहते हैं ।

आधुनिक काल में आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने 'विद्' धातु के सारे अर्थ ध्यान में लेते हुए वेद का लक्षण बताया है – **विदन्ति-जानन्ति, विद्यन्ते-भवन्ति, विन्दन्ति विदन्ते सर्वा: सत्यविद्या: यै: यत्र वा स वेद:** – अर्थात् जिसकी सहायता से या जिसके अन्तर्गत, सभी सत्य-विद्याओं का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे वेद कहते हैं ।

वेद पठन की अद्भुत पद्धति

भारतीय समाज में अति प्राचीनकाल से ही वेदों के प्रति अति उत्कट भक्ति बनी रही और इसी कारण इस समाज के विद्यानिष्ठ लोगों ने इसके अविकृत रूप से रक्षण का अद्भुत कार्य किया । आज संसार में वेदों के समान विशुद्ध अविकृत रूप में संरक्षित अन्य कोई भी इतनी प्राचीन ज्ञाननिधि उपलब्ध

नही है । और सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि यह विशाल ज्ञानराशि वैदिक-विद्वानों ने वंश-परम्परा से कण्ठस्थ करते हुए सुरक्षित रखी । इसी उद्देश्य से उन्होंने 'अष्टविकृति' युक्त वेदपठन की अद्‌भुत पद्धति आरम्भ की ।

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो धनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ।।

इस श्लोक में उन आठ विकृतियों यानी पद्धतियों का क्रमशः नाम बताया गया है । पठन की इस पद्धति के कारण ही वेदों में विकृति नहीं आ सकी । वेदों का रक्षण एवं वेदार्थ की मीमांसा के उद्देश्य से 'अनुक्रमणी' नामक सूची ग्रन्थों की रचना हुई । इसके द्वारा किसी भी मंत्र के ऋषि, देवता या छन्द के विषय में जानकारी मिलती है । शौनक की अनुवाक-अनुक्रमणी और कात्यायन की सर्वानुक्रमणी ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । माधव भट्ट ने भी दो सर्वानुक्रमणियाँ लिखीं । यजुर्वेद की शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी, अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रमणी और सामवेद की अनेक अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं ।

वेदो की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में मतैक्य नहीं दिखता । एक मत के अनुसार वेद परमात्मा के मुख से निकले शब्द हैं । पुराणों में इसी दृष्टि से इनके लिए आविर्भूत, विनिःस्रित, उत्सृष्ट आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के चार मुखों से चार वेदों की उत्पत्ति मानी जाती है । ब्रह्मा को ही प्रजापति कहा गया है । सर्वप्रथम ऋषियों ने ही उनका हुंकार सुना, इसलिए उसे 'श्रुति' कहा गया । एक मत यह भी है कि वेद शब्दरूप होने से आकाश से उत्पन्न हुए । शब्द आकाश का ही गुण है । हृदयाकाश या चिदाकाश से जो दिव्य वाणी प्रगट हुई, वही वेद कहलायी । यह वाणी तपस्या में निमग्न ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकट हुई – इसी कारण ऐसी मान्यता है कि वेदों की स्फूर्ति जिन ऋषियों को हुई, वे मंत्रों के रचयिता नहीं, बल्कि द्रष्टा थे ।

वेदों के प्रवर्तक विष्णु

विष्णु पुराण में वेदों का प्रवर्तक भगवान विष्णु को कहा गया है । कुछ पुराणों मे कहा गया है कि वेदों की प्राप्ति वामदेव अर्थात् शिव से हुई । शिव के पाँच मुखों में से एक वामदेव हैं । ऋक्, यजुस्, साम का मूलस्थान भी रुद्र ही हैं ।

कुछ पुराणों में वेदों की उत्पत्ति ओंकार या प्रणव से मानी गयी है । शिव पुराण (७.६.२७) के अनुसार अ, उ, म् और सूक्ष्म नाद से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का निर्माण हुआ । भगवद्‌गीता (७.८) के अनुसार सारा साहित्य ही ओंकार से निर्मित है । महाभारत में भी कहा गया है कि पहले वेद एक शब्द मात्र था और वह ओंकार-स्वरूप था । देवी माहात्म्य में देवी को इसका श्रेय दिया गया है । मत्स्यपुराण में गायत्री को वेदमाता कहा गया है । कुछ पुराणों में सूर्य से वेदों की उत्पत्ति बताई गई है ।

संख्या की दृष्टि से प्रारम्भ में वेद केवल एक था । भगवान व्यासदेव ने यज्ञविधि के अनुसार उसका चार भागों में विभाजन किया । इसी कारण उन्हें 'वेदव्यास' (यानी वेदों का विभाजन या विस्तार करनेवाले) कहा जाता है । चारों वेदों का मण्डल, अष्टक, वर्ग, सूक्त, अनुवाक्, खण्ड, काण्ड, प्रश्न, छन्द इत्यादि विविध प्रकारों से वर्गीकरण किया गया । गद्य तथा पद्य भाग के प्रत्येक अक्षर की गणना हुई । सभी प्रकार के धार्मिक कर्मों में वेदमंत्रों का यथोचित विनियोग कर वैदिक हिन्दुओं ने वेदों को अपनी जीवन-पद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया ।

संहिता और ब्राह्मण

मंत्र और ब्राह्मण ग्रन्थ को मिलाकर वेद कहते हैं – **मंत्र-ब्राह्मणयोः वेदनामधेयम** । मंत्रों का समुच्चय 'संहिता' कहा जाता है । और 'ब्राह्मण' – नामक ग्रन्थों में संहिता के ही मंत्रों का सविस्तार वर्णन हुआ है । ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य – यज्ञयागों का सविस्तार प्रतिपादन करना है और उसी दृष्टि से उनमें वेदों का विवरण दिया गया है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन विभाग होते हैं – **(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक** तथा **(३) उपनिषद्** । इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में मुख्यतः (१) मंत्र संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक और (४) उपनिषद् का अन्तर्भाव होता है । प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से वेदों के दो भाग माने जाते हैं – **(१) कर्मकाण्ड** और **(२) ज्ञानकाण्ड** । संहिता, ब्राह्मण तथा आंशिक रूप से आरण्यक में भी मुख्यतः वैदिक कर्मकाण्ड का और उपनिषदों में केवल ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन मिलता है ।

वेद और आश्रम-व्यवस्था

इस चतुर्विध वैदिक साहित्य का मानवी जीवन के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास – इन चार आश्रमों से सम्बन्ध जोड़ा जाता है । ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिताओं का पठन, गृहस्थ आश्रम में ब्राह्मण ग्रन्थानुसार यज्ञ-यागादि कर्मों का आचरण, वानप्रस्थ आश्रम में अरण्यवास करते हुए आरण्यकों का अध्ययन करते हुए यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का आकलन करना और संन्यास आश्रम में कर्मकाण्ड का परित्याग कर उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति । इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने चतुर्विध वैदिक साहित्य का जीवन की चतुर्विध अवस्थाओं से सम्बन्ध जोड़ा था ।

भगवान शंकराचार्य वैदिक धर्म को प्रवृत्ति-परक तथा निवृत्ति-परक – दो प्रकार का मानते है । अपने गीताभाष्य में उन्होंने

लिखा है – **द्विविधो हि वैदिको धर्मः प्रवृत्ति-लक्षणः निवृत्ति-लक्षणः च** । वैदिक साहित्य में संहिता तथा ब्राह्मणों का प्रवृत्ति-परक धर्म से और आरण्यक (अंशतः) तथा उपनिषदों का निवृत्ति-परक धर्म से सम्बन्ध माना जाता है ।

उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं, अतः उन्हें 'वेदान्त' भी कहते हैं । बादरायण व्यास ऋषि ने उपनिषदों का रहस्य बताने हेतु ब्रह्मसूत्र या शारीरक-सूत्रों की रचना की । श्रीमद्भगवद्गीता में भी (ब्रह्मसूत्रों के समान ही) उपनिषदों का सार-सर्वस्व समाविष्ट होने के कारण वेदान्त-साहित्य में उपनिषदों के साथ ही ब्रह्मसूत्र और गीता का भी अन्तर्भाव होता है और इन तीनों को मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं । अर्थात् वैदिक धर्म का सम्पूर्ण स्वरूप यथार्थ रूप से समझने के लिये संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों के साथ ही ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का भी अध्ययन नितान्त आवश्यक है । संहिता, ब्राह्मण तथा अंशतः आरण्यक प्रवृत्ति-परक वैदिक धर्म की प्रस्थानत्रयी और उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता निवृत्ति-परक वैदिक धर्म की प्रस्थानत्रयी है । ऋक्संहिता, यजुःसंहिता और सामसंहिता को भी 'त्रयी' कहते हैं ।

प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री वराहमिहिर कहते हैं – **वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः** – अर्थात् परमात्मा ने यज्ञों के लिये ही वेदों का निर्माण किया । यज्ञविधि में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विजों (पुरोहितों) की आवश्यकता होती है और उन चारों का ऋग्, यजुस्, साम तथा अथर्ववेद के साथ यथाक्रम सम्बन्ध रहता है ।

यज्ञविधि के समय विशिष्ट देवताओं के प्रशंसापरक मंत्रों द्वारा आवाहन करनेवाले ऋत्विक् को 'होता' कहते हैं । देवताओं के आवाहन के निमित्त आवश्यक मंत्रों का संकलन जिस संहिता में हुआ है, उसे ऋक्संहिता या ऋग्वेद कहते हैं ।

ऋच्यते-स्नूयते प्रतिपाद्यः अर्थः यथा सा ऋक् – अर्थात् जिस मंत्र द्वारा प्रतिपाद्य विषय (देवता) का स्तवन किया जाता है, उसे 'ऋक्' कहते हैं । इन ऋचाओं का समूह ऋग्वेद कहलाता है – **ऋचां समूहो ऋग्वेदः** । ऋग्वेद संहिता में सभी मंत्र पादबद्ध अथवा छन्दोबद्ध होते हैं ।

शाकल ऋषि ने इस ऋग्वेद का सूक्त और मण्डल रूप में विभाजन किया । 'बृहद्देवता' ग्रन्थ में कहा गया है – **सम्पूर्ण-ऋषिकामं तु सूक्तम् इत्यभिधीयते** – ऋषि की कामना जिन मंत्रो में सम्पूर्णतया व्यक्त होती है, ऐसे मंत्रात्मक स्तोत्र को 'सूक्त' कहते हैं ।

उपरोक्त वैदिक सूक्तों के भी चार प्रकार होते हैं – **(१) ऋषिसूक्त** अर्थात् एक ही ऋषि के मंत्रों का समूह । **(२) देवतासूक्त** अर्थात् एक देवता की स्तुति का मंत्रसमूह । **(३) अर्थसूक्त** अर्थात् एक विशिष्ट अर्थ की समाप्ति तक के मंत्रों का समूह । और **(४) छन्दःसूक्त** अर्थात् समान छन्द के मंत्रों का समूह ।

ऋग्वेद का विभाजन दो अन्य प्रकारों से भी हुआ है – **(१) मण्डल, अनुवाक् तथा सूक्त । (२) अष्टक, अध्याय तथा वर्ग ।**

ऋग्वेद संहिता में सम्पूर्ण मंत्रों की संख्या १०,५८०; शब्दों की संख्या १,५३,८२६ और अक्षरों की संख्या ४,३२,००० है । इसमें १० मण्डल, ८५ अनुवाक् और १०१७ सूक्त हैं; अथवा ८ अष्टक, ६४ अध्याय और २०८ वर्ग हैं । सारे मंत्र १५ छन्दों में रचित हैं, जिनमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, पंक्ति, बृहती और जगती प्रमुख हैं । ऋग्वेद का प्रारम्भ अग्निसूक्त और अन्त संज्ञानसूक्त से होता है ।

ऋग्वेद में अनेक ऋषिया का उल्लेख हुआ है । भारतीय परम्परा के अनुसार ऋषि मंत्रो के रचयिता नही, बल्कि 'दृष्टा' हैं – **ऋषयो मंत्रदृष्टारः । ऋषिर्दर्शनात् । (यास्क)** । ऋग्वेद के ऋषिगण अन्यान्य कुटुम्बों से सम्बन्धित हैं । सामान्यतः एक ही कुल के ऋषियों के मंत्रों का संग्रह एक मण्डल में किया गया है । केवल प्रथम और दशम मण्डल में अन्यान्य परिवार के ऋषि के मंत्र संग्रहित किये हुए हैं ।

आठवें मण्डल में काण्व और अंगिरा ऋषि के मंत्र हैं । इस मण्डल में 'प्रगाथ' नामक छन्द का प्राधान्य होने के कारण इस मण्डल के ऋषियों को 'प्रगाथ' कहते हैं ।

नवम मण्डल में अन्यान्य कुलों के ऋषियों के मंत्रों का संग्रह है । इस मण्डल में केवल देवता-स्तुति के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी समावेश हुआ है । द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक एक एक कुल के ही ऋषियों के मंत्रों का संग्रह है । जैसे – **(१) मण्डल (२) गृत्समद (३) विश्वामित्र (४) वामदेव (५) अत्रि (६) भारद्वाज (७) वसिष्ठ ।**

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद का दशम मण्डल उत्तरकालीन माना जाता है । पहले और दसवें मण्डल में प्रत्येक के सूक्तों की संख्या १९१ है ।

व्यासकृत **चरणव्यूह** नामक ग्रन्थ में (जिस पर महीदास की महत्वपूर्ण टीका उपलब्ध है) ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ बताई गई हैं – **(१) शाकल (२) बाष्कल (३) आश्वालायन (४) शांखायनी (५) माण्डूकेयी** । इनमें से आज शाकल और बाष्कल शाखा की ही संहिताएँ उपलब्ध है ।

ऋग्वेद संहिता का स्वरूप निर्धारित हो जाने के बाद **शाकल्य ऋषि** ने उसे शुद्ध स्वरूप में सुरक्षित रखने तथा अर्थज्ञान के लिये उसका **'पदपाठ'** तैयार किया । शाकल्य का

समय निरुक्तकार यास्क (३री सदी) तथा ऋक्-प्रातिशाख्य-कार शौनक (ईसा पूर्व) से भी प्राचीन माना जाता है, क्योंकि यास्काचार्य ने शाकल्य के उद्धरण दिये हैं और ऋक्- प्रातिशाख्य की रचना शाकल्य के पदपाठ पर ही आधारित है।

ऋग्वेद के सूक्तों में श्लोकों की संख्या ३ से ५८ तक है। तथापि सामान्यत: प्रत्येक सूक्त में औसतन १० से १३ तक श्लोक देखने में आते हैं।

भगवान व्यास के ऋग्वेदी शिष्य **पैल ऋषि** ने अपनी संहिता के दो विभाग कर एक बाष्कल को और दूसरी इन्द्रप्रमिति को पढ़ाई। बाष्कल की शाखा में बाध्य, अग्निमाठर, पराशर और जातुकर्ण्य इत्यादि शिष्य-परम्परा चली। इन्द्रमिति की शाखा में माण्डूकेय, सत्यश्रवा, सत्यहित, सायश्रिय, देवमित्र, शाकल्य, रथीतर, शाकपूणि बाष्कली, भारद्वाज इत्यादि शिष्य-परम्परा हुई। इनमें देवमित्र और शाकल्य ने शिष्य-परम्परा का अधिक विस्तार किया।

ऋग्वेद की २१ शाखाओं में शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय – ये पाँच शाखाएँ मुख्य मानी जाती हैं। पर आज उनमें केवल शाकल शाखा की संहिता उपलब्ध है और उसी का सर्वत्र अध्ययन होता है। शांखायन-संहिता उपलब्ध नहीं है (कहते हैं कि नासिक के दिवंगत वेद-पण्डित श्रीधर शास्त्री वारे के संग्रह में इस संहिता की पाण्डुलिपि है।) तथापि शांखायन शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक और कल्पसूत्र (श्रौत और गृह्य) उपलब्ध हैं। उसी प्रकार शांखायनों के (शांखायन, कौषीतकी, महाकौषीतकी और शावध्य नामक) चार विभागों में से केवल कौषीतकी शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौतसूत्र और अन्य कल्प-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ❖ ❖ ❖

प्रजातंत्र की प्रक्रिया

भैरवदत्त उपाध्याय

प्रजातंत्र की परिभाषा के लिए प्रायः अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के ये शब्द उद्धृत किये जाते - "वह जनता का शासन है, जो जनता के द्वारा और जनता के लिए होता है।" वास्तव में प्रजातत्र का अर्थ लोकशाही के नाम राजनीतिक सत्ता का हस्तान्तरण नहीं है और यह मात्र एक प्रशासनिक व्यवस्था भी नहीं है, अपितु एक जीवन शैली, जीवन-दर्शन और जीवन का आचरण है। यह जीवन जीने की कला तथा जीवन की प्रक्रिया है। यह विशाल दृष्टिकोण और उदार व्यवहार है, जिसमें मानवीय-संवेदना का पवित्र पुट है। यह आत्मानुशासन है, ऊपर से थोपा गया शासन नहीं है। इसमें आदर्श और यथार्थ का समन्वय तथा व्यक्ति और समाज का अनोखा सगम है। इसमें पारस्परिक सम्मान और आदर का स्थान है और एक-दूसरे दृष्टिकोण को समझने तथा यथोचित महत्व देने की अनिवार्यता है। मानवीय सम्बन्धों के क्षितिजीय आधार पर अवस्थित प्रजातत्र व्यक्ति के विकास का द्वार खोलता है। उसे सर्वाङ्गीण प्रगति की ओर उन्मुख करता है। यह मानव के सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध है। यह व्यक्ति की स्वतत्रता में विश्वास करता है, क्योंकि मनुष्य के मानवीय गुणों में इसकी दृढ़ आस्था है।

जनतत्र और भेड़तत्र में अन्तर है। जनतत्र को सख्याबल नहीं मानवीय मूल्यों का बल चाहिए, जबकि भेड़तत्र को केवल संख्याबल ही अपेक्षित है। प्रजातत्र में व्यक्ति की तानाशाही का तो प्रश्न ही नहीं, किसी दल का भी अधिनायकत्व नहीं होता। यह ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें व्यष्टि का समष्टि के लिए अथवा समष्टि का व्यष्टि के लिए बलिदान नहीं होता है। दोनों का स्वतत्र अस्तित्व बना रहता है और एक-दूसरे के लिए त्याग तथा समर्पण की उत्कण्ठा होती है।

प्रजातत्र किसी सम्प्रदाय, वाद या विचार-विशेष के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होता। वह विसवादी न होकर संवादी चरित्र का होता है। गुणवत्ता उसका गुण है। उसका लक्ष्य 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के स्थान पर 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' होता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की साधना प्रजातत्र का व्रत है और सर्वोदय की भावना उसका मूल धर्म है।

समता, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, सहानुभूति, करुणा, मुदिता, मैत्री, उपेक्षा, सत्य, अहिंसा, आत्मसन्तोष, उदारता, आपसी समझ, सहकार, नैतिक मूल्य और मानवीय संवेदना के स्तम्भों पर प्रजातंत्र का भव्य प्रासाद आधारित है। उच्च चरित्र, आदर्श नागरिकता, शिक्षा, कर्तव्य-बोध और आर्थिक समृद्धि जनतत्र की सफलता के केन्द्र-बिन्दु हैं। जब तक हम अपने जीवन में जनतत्रीय नहीं होंगे, तब तक उसकी सफलता की भी आशा नहीं कर सकते। ❖ ❖ ❖

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

नगेन्द्रनाथ गुप्त

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका सामीप्य पाया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियों को लिपिबद्ध किया है। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत लेख अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से लिया गया है और इसके अनुवाद में हमें नागपुर की श्रीमती कान्ता सिन्हा का विशेष सहयोग मिला है, जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ है। – सं.)

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

जिससे अधिक समालोचनात्मक तथा कम भावनात्मक किसी सभा की कल्पना नहीं की जा सकती, उस धर्म-महासभा में अपने अपने धर्म या सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने को पूरे विश्व के एक-से-एक बढ़कर विद्वान् तथा महात्मा पधारे थे। पवित्र परम्परा में घोर पाण्डित्य रखनेवाले, अनेक चर्चों के आदरणीय तथा ऊँचे पदाधिकारी, मठों की एकान्त छायादार गलियारे तथा शान्ति को छोड़कर सुदूर पश्चिम के इस नगर के उस भव्य संसद में एकत्र हुए। यह एक ऐसी संसद थी, जो चुनावी खेमों तथा मतदान-बूथों से नहीं; बल्कि विश्व भर के मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों तथा पैगोडाओं से आये हुए लोगों से भरी हुई थी। इनमें से अधिकांश अत्यन्त उन्नत लोग थे, जिन्होंने बरसों के संयमित अनुशासन, ध्यान तथा तपस्या के द्वारा अपने जीवन में काफी प्रगति कर ली थी और वे किसी बाह्य प्रभाव के द्वारा सहज ही विचलित होनेवाले नहीं थे। उनमें से सभी अपने अपने क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्ति थे और उनमें से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त लोग भी थे।

अब यह तो स्पष्ट है कि पूर्व के इस युवा अजनबी का स्थान उन सभी के पीछे ही आता था; जो अपनी किसी बड़ी उपलब्धि के चलते नहीं, बल्कि दूसरों की सहृदयता तथा सहयोग के कारण ही वहाँ उपस्थित था। फिर कैसे वह उस विशाल धर्मसभा पर आँधी की भाँति छा गया, किस प्रकार गैरिक वस्त्र तथा पगड़ी धारण किये उस हिन्दू के रेखांकित चित्रों से अमेरिका के समाचार-पत्र भर गये और किस प्रकार अमेरिकी नर-नारियाँ भीड़ लगाकर उन्हें देखने तथा सुनने को लालायित रहते थे? यह सब अब इतिहास का एक हिस्सा बन चुका है। सीजर के विजयोल्लास-सन्देश में थोड़ा परिवर्तन करके सत्यता के साथ यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द गये, उन्हें देखा तथा सुना गया और उन्होंने जीत लिया। मानो एक ही छलांग में वे गुमनामी के तल से निकलकर प्रसिद्धि के शिखर पर जा पहुँचे। क्या यह बात उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण नहीं है कि उस धर्म-महासभा में इतने जाने-माने तथा विशिष्ट लोगों की उपस्थिति के बावजूद आज उनमें से केवल एक ही नाम – स्वामी विवेकानन्द का ही स्मरण किया जाता है? यह बात शत-प्रतिशत सत्य है कि सभी धर्मों के विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति के बावजूद उस धर्मसभा में उनके जैसा एक भी व्यक्ति नहीं आया था। आयु में कनिष्ठ होते हुए भी, ये हिन्दू संन्यासी एक ऐसे पूर्ण तथा कठोर अनुशासन में ढले हुए थे, जिसकी वहाँ उपस्थित लोगों में कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था। एक अकल्पनीय लाभ के रूप में उन्हें एक ऐसे गुरु के चरणों में बैठने का सुयोग मिला था, जिनके तुल्य किसी व्यक्ति को पिछली कई शताब्दियों से विश्व ने नहीं देखा था। उन्होंने गरीबी तथा भूख का सामना किया था और दुनिया के सर्वाधिक निर्धन देश भारत के निर्धनतम लोगों के बीच विचरण करते हुए उनके प्रति सहानुभूति जतायी थी। उन्होंने प्राचीन आर्य ऋषियों के चिर प्रवाहमान ज्ञानस्रोत में पैठकर उसका गहराई से पान किया था। और वे ऐसे साहस से सम्पन्न थे कि अनुद्वेगपूर्वक पूरे विश्व का सामना करने में सक्षम थे।

धर्म-महासभा में जब तुरही की ध्वनि के समान उनकी ध्वनि गुंजित होने लगी, तो धीमे चलनेवाली धमनियों की गति में तीव्रता आ गयी और विचारशील नेत्रों में चमक आ गयी; क्योंकि उनकी वाणी उसी वस्तु को अभिव्यक्ति दे रही थी, जो काफी काल से शान्त होने के बावजूद नि:शेष नहीं हुई थी और अब जीवन्त हो उठी थी। इन प्रभावशाली तथा सबल व्यक्तित्व, सुन्दर तथा मोहक मुखमण्डल, बड़ी बड़ी दीप्तिमान आँखें, गहरी लयवाली स्पष्ट वाणी से युक्त इस युवा भारतीय संन्यासी से उत्कृष्ट प्रमाणपत्र प्रस्तुत करनेवाला, विद्वानों की उस सभा में दूसरा कौन था? प्राचीन भारत का ज्ञान तथा शक्ति और प्राचीन आर्य जाति की अपार सहनशीलता तथा सहानुभूति रूपी चारित्रिक गुण मानो पुनरुज्जीवित होकर उनके माध्यम से साकार हो उठे थे। उनकी अन्तर्निहित शक्ति तथा ज्वलन्त तेज हर मोड़ पर अपनी द्युति की प्रकाश छोड़ते हुए उनके आसपास के लोगों पर प्रभुत्व जमाकर उन्हें विस्मय-विभोर कर देता था।

उनके पहले भी भारत से कुछ सुसंस्कृत, व्याख्यान कला में निपुण तथा धर्म-विश्वासी लोग धर्मप्रचार हेतु पश्चिम में गये थे, परन्तु कोई भी वहाँ स्वामीजी के समान गहरा प्रभाव नहीं छोड़ सका। इन अन्य लोगों ने जो दृष्टिकोण अपनाया, वह या तो क्षमायाचना का भाव था, या फिर पूर्व पर पाश्चात्य श्रेष्ठता का आरोपण था। इनमें से कुछ ने कहा कि वे लोग सिखाने की आकांक्षा से नहीं, बल्कि सीखने का इरादा लेकर

आये हैं । उनमे से प्राय: सभी पश्चिमी संस्कृति के चकाचौंध युक्त वैभव से विमुग्ध थे । परन्तु स्वामी विवेकानन्द में कभी कोई शंका या क्षमायाचना का भाव नहीं आया, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे एक ऐसी भूमि से आये हैं, जिसने मानवजाति के अधिकांश महान् तथा ज्ञानी आचार्यो को जन्म दिया है । पश्चिम की चकाचौंध उनके लिए कोई मायने नहीं रखती थी और इस कारण उनकी वाणी ने कभी भी अधिकारपूर्ण स्वर नही खोया । उनके इर्द-गिर्द के कुछ लोग तो उनकी शिक्षा से लाभ पाने को उत्सुक थे, परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी थे जो निष्प्रयोजन उनकी प्रशंसा किया करते थे । ऐसी परिस्थितियों में जैसा हुआ करता है, उन्हें सुन्दर तथा प्रभावशाली युवतियों द्वारा लिखे हुए बहुत-से रोमांसपूर्ण पत्र भी मिला करते थे । और कुछ लोग उनकी सेवा मे उपस्थित होने के लिए तत्पर थे । एक दन्त-चिकित्सक ने आवश्यकता पड़ने पर नि:शुल्क उनके दाँत साफ कर देने की प्रतिज्ञा की । एक अन्य चिकित्सक ने अपने सुन्दर तथा विलासितापूर्ण उपकरण देने चाहे, परन्तु भारतीय संन्यासी के लिए उनकी कोई उपयोगिता न थी । उन्हें एक उपदेशक बनने का बहुमूल्य प्रस्ताव भी मिला, जिसमें पूरे अमेरिका का भ्रमण करते हुए व्याख्यान देने के साथ ही चमकते हुए डालरों की एक बड़ी राशि भी मिलनेवाली थी । यह धन स्वामीजी द्वारा बाद में जगह जगह बनवाये जानेवाले मठों की स्थापना में भी काम आ सकते थे ।[१] परन्तु उनका त्याग-व्रत उनके धन कमाने या संचय करने में बाधक बन गया । अमेरिका तथा इंग्लैंड में वे सार्वजनिक व्याख्यानों के अतिरिक्त अनौपचारिक कक्षाएँ भी चलाते थे । इनमें तीव्र जिज्ञासा रखनेवाले कुछ गिने-चुने लोग ही सचमुच ही कुछ सीखने की इच्छा के साथ स्वामीजी के पास आते थे । वस्तुत: उन देशो में उनके शिष्यो की संख्या अधिक न थी, परन्तु वे जहाँ कहीं भी गये, वहाँ लोग कुछ सोचने को विवश हुए और उनका अलौकिक व्यक्तित्व एक अमिट छाप छोड़ गया ।

स्वामी विवेकानन्द ने एक अज्ञात तथा अख्यात युवक के रूप मे भारत से प्रस्थान किया था । पर अमेरिका तथा इंग्लैंड में अर्जित उनकी प्रसिद्धि उनके भारत लौटने के पूर्व ही यहाँ आ पहुँची थी । सर्वत्र उन्हें प्राचीन आर्यजाति का धर्मदूत तथा नायक मान लिया गया । मद्रास में उनका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ । कलकत्ता में उनके स्वागत के लिए बनी कमेटी के कुछ सदस्यों ने उन्हें स्वागत समारोह के खर्च का बिल भेज दिया । स्वामीजी ने नाराजगी के स्वर में मुझसे कहा था, "मुझे किसी स्वागत-समारोह से क्या लेना-देना है? वे लोग सोचते हैं कि मै अपने स्वागत-समारोह पर खर्च करने के लिए अमेरिका से बहुत-सा रुपया कमाकर लाया हूँ । ये लोग क्या मुझे एक तमाशेबाज या ढोंगी समझते हैं?" इससे उनके स्वाभिमान को चोट पहुँची थी और उन्हें बड़ा क्रोध भी आया था ।

भारत लौटकर उनके द्वारा रामकृष्ण मठ स्थापित किये जाने पर उसमें निवास करने को कुछ उत्साही नवयुवक एकत्र हुए । उन लोगों ने ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का व्रत लिया और उनके द्वारा भारत के विभिन्न स्थानों पर मठों की स्थापना हुई । कुछ मठ अमेरिका में भी स्थापित हुए हैं, ताकि उनके माध्यम से विश्व के उस भाग में आरम्भ किया गया उनका कार्य अबाध गति से चलता रहे । वहाँ बड़े आदरपूर्वक उनका स्मरण किया जाता है । स्वामीजी ने मुझे बताया कि परमहंसदेव ब्रह्मचर्य तथा नैतिक पवित्रता (सदाचार) पर बल देते हुए इसी को आत्मसंयम का मूल बताते थे । यही भाव स्वामी विवेकानन्द के शिष्यों में और उनकी महासमाधि के उपरान्त मठ के भ्रातृभाव में सम्मिलित होनेवाले लोगों में आज भी देखा जा सकता है । रामकृष्ण मठ के प्रत्येक सदस्य मन तथा जीवन से शुद्ध है, सुसंस्कृत तथा विद्वान् है और यथासाध्य अपने देशवासियों की सेवा में रत हैं । उनके उदाहरण और उनकी मौन-निष्काम सेवा से समाज भी लाभान्वित होता है ।

स्वामीजी के अमेरिका जाने के पूर्व आखिरी बार मैं उनसे १८८६ ई. में मिला था । उस समय मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया हुआ था और वहाँ मैंने सुना कि परमहंसदेव ने महासमाधि ले ली है । मैं शीघ्रतापूर्वक गाड़ी लेकर काशीपुर के उद्यान-भवन जा पहुँचा । परमहंसदेव ने अपनी ऐहिक लीला का अन्तिम कुछ काल इसी भवन में बिताया था । उन्हें भवन के सामनेवाले बरामदे में एक स्वच्छ बिस्तर पर लिटाया गया था और विवेकानन्द सहित सारे शिष्य आँखों में आँसू भरे बिस्तर को चारों ओर से घेरकर जमीन पर बैठे हुए थे । परमहंस दाहिनी करवट लेटे थे । उनके चेहरे पर एक अपरिमित शान्ति तथा महासमाधि की निश्चलता विराज रही थी । ढलते अपराह्न के समय नि:शब्द खड़े वृक्षों पर और गहन नीले आकाश में जहाँ दो-एक बादल शब्दहीन घूम रहे थे – चारों ओर शान्ति का साम्राज्य था । और जब हम सभी सादर मौन धारण किये, मृत्यु के सान्निध्य से छायी नीरवता में चुपचाप बैठे हुए थे, तभी आकाश से वर्षा की कुछ बड़ी बड़ी बूँदें टपक पड़ीं । यह प्राचीन आर्य ऋषियों द्वारा वर्णित पुष्पवृष्टि थी । जब मर्त्यलोक का कोई विशिष्ट प्राणी अमर पद पा जाता है, तो देवतागण अपनी श्रद्धांजलि के रूप में आकाश से ये तरल पुष्प बरसाते हैं । यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने परमहंसदेव को जीवित देखा और मृत्यु के समय भी उनके मुखमण्डल की सौम्यता के दर्शन किये ।

इसके ग्यारह साल बाद, सन् १८९७ में ही मेरी विवेकानन्द से पुन: भेंट हुई । तब तक वे पूर्व तथा पश्चिम में समान रूप

१. परन्तु बाद में उन्होने एक लेक्चर ब्यूरो का प्रस्ताव मानकर अनेक स्थानो पर भाषण दिये ।

से सुविख्यात हो चुके थे । उन्होंने काफी भ्रमण किया था, अनेक देश देख चुके थे और असंख्य लोगों से मिल चुके थे । उन दिनों मैं लाहौर में था और मेरे सुनने में आया कि वे धर्मशाला नामक पर्वतीय नगर में ठहरे हैं । फिर वे काश्मीर प्रान्त के जम्मू अंचल में गये और तत्पश्चात् लाहौर आये । वहाँ उनका अभिनन्दन किया जाना था और इस कारण उनके निवास हेतु एक भवन ठीक किया गया था । गाड़ी के रेल्वे स्टेशन में प्रवेश करने पर मैंने देखा कि प्रथम श्रेणी के डिब्बे से एक अंग्रेज सैनिक अधिकारी नीचे उतरा और शीघ्रतापूर्वक दरवाजा खोलकर बड़े आदर के साथ खड़ा हो गया । अगले ही क्षण स्वामी विवेकानन्द ने उस दरवाजे से निकलकर प्लेटफार्म पर पाँव रखे । वह अधिकारी झुककर स्वामीजी का अभिवादन करने के बाद मुड़ने ही वाला था कि स्वामीजी ने आगे बढ़कर उससे हाथ मिलाया और दो-चार शब्द कहने के बाद उससे विदा ली । पूछने पर विवेकानन्द ने बताया कि वे उस अफसर को नहीं जानते, परन्तु यात्रा के दौरान उसी डिब्बे में सवार होने के बाद उसने बताया कि इंग्लैंड में उसने स्वामीजी के कुछ व्याख्यान सुने थे और भारतीय सेना में वह कर्नल के पद पर था । विवेकानन्द प्रथम श्रेणी में यात्रा करते हुए आये थे, क्योंकि जम्मू के लोगों ने उन्हें प्रथम श्रेणी का टिकट खरीद दिया था । उसी रात विवेकानन्द अपने दो शिष्यों के साथ मेरे घर पर आ गये । उस रात और उसके बाद आनेवाली रातों और दिन के समय जब भी मुझे समय मिलता, हम काफी देर तक बात करते रहते थे । सबसे अधिक जो बात मेरे ध्यान में आयी, वह थी स्वामी विवेकानन्द के विचारों की दृढ़ता और देश के प्रति उनकी अटूट कर्तव्यनिष्ठा । उनमें आध्यात्मिक निष्ठा तथा बौद्धिक कुशाग्रता का पूर्ण सामंजस्य था । उन्होंने संसार की अनेक समस्याओं पर विचार किया था और उनमे से अधिकांश के हल ढूँढ़ निकाले थे । वे असामान्य रूप से भविष्य मे भी देख पाते थे । उनका कहना था, ''भारत मे मध्यवर्ग की शक्ति समाप्त हो चुकी है । उनके पास दृढ़ तथा निरन्तर उद्यम में लगे रहने की शक्ति नही है । भारत का भविष्य तो उसकी आम जनता पर निर्भर है ।'' एक दिन दोपहर के समय वे बड़ी गम्भीर मुखमुद्रा के साथ मेरे पास आये और बोले, ''यदि मेरे जेल जाने से देश का किसी भी तरह से कल्याण हो, तो मैं इसके लिए भी तैयार हूँ ।'' मैंने उनकी ओर देखा और विस्मयपूर्वक सोचने लगा – अभी हाल ही मे विजयश्री से मण्डित होकर स्वदेश लौटने के बाद, उस गौरव का उपभोग करने की बात भूलकर, ये तो बल्कि आवश्यकता पड़े और कोई फल निकलने की सम्भावना हो, तो जेल भी जाने की कामना कर रहे हैं । किसी भी प्रकार का ढोंग उनके स्वभाव के विपरीत था, अत: वे किसी प्रकार के शहीद का खिताब पाने को उत्सुक नहीं थे, बल्कि नि:सन्देह वे उस समय देश के उद्धार हेतु कोई भी कष्ट सहन करन को तैयार थे । उन दिनों जनता के सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा असहयोग आन्दोलन का कोई नाम तक नही जानता था; तथापि राजनीति से कोई भी सरोकार न रखनेवाले विवेकानन्द, काफी काल बाद आनेवाले कल की परछाई के नीचे खड़े थे । अपनी जापान-यात्रा के दौरान जापानी लोगों की देशभक्ति देखकर वे उनके उत्साही प्रशंसक बन गये थे । उत्साह से दमकते हुए मुखमण्डल के साथ वे बताते थे, ''उनका देश ही उनका धर्म है । उनका राष्ट्रीय नारा है – ''महामहिम जापान दीर्घजीवी हो! उनके लिए देश ही सर्वोपरि है और बाकी सब का स्थान उसके बाद है । देश की अखण्डता तथा सम्मान हेतु उनके लिए कोई भी बलिदान असम्भव नही है ।''

एक शाम बख्सी जैसीराम नामक एक सम्भ्रान्त पंजाबी सज्जन ने हमे निशाभोज के लिए निमंत्रित किया । वे पंजाब के धर्मशाला नामक पर्वतीय नगर में स्वामीजी से मिल चुके थे । उन्होंने धूम्रपान के लिए स्वामीजी को एक सुन्दर और नया हुक्का दिया । हुक्के से मुँह लगाने के पूर्व वे बोले, ''यदि जातिभेद के विषय मे आपकी दृढ़ आस्था हो, तो मुझे अपना हुक्का मत दीजिए, क्योंकि कल को यदि कोई अछूत भी पीने को मुझे अपना हुक्का दे, तो मैं उसे भी बड़े आनन्द के साथ पीऊँगा, क्योंकि मैं जाति-पाति के दायरे से परे जा चुका हूँ ।'' मेजबान ने सविनय कहा कि स्वामीजी द्वारा हुक्का स्वीकार कर लेने पर वे स्वयं को गौरवान्वित समझेंगे । विवेकानन्द के लिए अपने भारत-भ्रमण के दौरान छूआछूत की समस्या का समाधान हो चुका था । उन दिनों उन्होंने ऐसे छोटी-से-छोटी जातिवाले और परम निर्धन लोगों के घर भी खाना खाया था, जिन्हे कोई सवर्ण हिन्दू स्पर्श तक करने को राजी नहीं होता, परन्तु उन्होंने उन लोगों की मेजबानी को सधन्यवाद स्वीकार किया था । इन सबके बावजूद स्वामीजी कोई दब्बू व्यक्ति नही थे; (क्योंकि) एक बार लाहौर में वेदान्त पर भाषण देते हुए उन्होंने अपना मस्तक ऊँचा करके तथा नथुने फुलाकर घोषणा की थी, ''मैं मानव-जाति से सर्वाधिक गर्वीले व्यक्तियो में से एक हूँ ।'' आम तौर पर दीख पड़नेवाली मिथ्या विनम्रता की जिस भावना ने हमारे देश तथा देशवासियों को इतना नीचे गिरा दिया था, यह कोई वैसा निरर्थक अहंकार नहीं, बल्कि अपनी महान् विरासत के बोध से उत्पन्न स्वाभिमान की अभिव्यक्ति थी ।

मेरी गुडविन से भी मुलाकात हुई थी, जो पहले एक बिल्कुल साधारण अंग्रेज युवक थे, परन्तु सौभाग्यवश स्वामीजी के सम्पर्क में आकर उनके परम निष्ठावान तथा विश्वस्त शिष्य बन गये । गुडविन एक तीव्र गति का तथा अच्छे संकेत-लेखक थे । स्वामीजी के अधिकांश भाषण उन्ही के द्वारा

लिपिबद्ध हुए थे । वे बच्चों के समान भोलेभाले तथा अपने प्रति दिखाई जानेवाली थोड़ी-सी भी सहानुभूति के प्रति संवेदनशील थे । बाद में मैं श्रीमती ओली बुल, कुमारी मैक्लाउड और कुमारी मार्गरेट नोबल आदि स्वामी विवेकानन्द की कुछ महिला शिष्याओं से भी मिला था । आयरलैंड में जन्मी प्रतिभावान कुमारी मार्गरेट को उन्होंने 'निवेदिता' का सुन्दर तथा सार्थक नाम दिया था । निवेदिता अर्थात् जो भारत की सेवा में निवेदित या समर्पित हो चुकी हो । भगिनी निवेदिता से पहली बार मैं काश्मीर के श्रीनगर में मिला, फिर लाहौर में उनके साथ कई बार भेंट हुई और तत्पश्चात् वे कलकत्ते में कई बार उनका मेरे घर पदार्पण हुआ । लाहौर में मैं उन्हें गरीबों की बस्ती में ले गया और रामलीला दिखाई, जिसमें उन्होंने काफी रुचि ली । भारत से सम्बन्धित प्रत्येक विषय पर उन्हें प्रबल जिज्ञासा थी । जब वे भारत में पहली बार आयीं, उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा था, परन्तु कठोर नियमों का पालन करने के फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य प्रभावित हुआ और द्रुत गति से अवनति को प्राप्त हो भारत की सेवा में व्यय हो गया । अपनी परिष्कृत बुद्धि तथा साहित्यिक प्रतिभा का अमिट निदर्शन वे अपने उत्कृष्ट ग्रन्थों के रूप में छोड़ गयी हैं ।

स्वामी विवेकानन्द की बातें प्रतिभापूर्ण, प्रेरक तथा मनमोहक होती थीं । उनके विचारों तथा वार्तालाप में उनका देश छाया रहता था । उनकी श्रद्धा गहन आध्यात्मिक अनुभवों की नींव पर टिकी थी, जिसकी सालोक अभिव्यक्ति उनके व्याख्यानों में देखने को मिलती है, पर उनकी देशभक्ति की जड़ें भी उतनी ही गहरी थी, जितनी कि उनके धर्म की । केवल वे ही लोग, अमेरिकी तथा अंग्रेज शिष्यों पर स्वामीजी की प्रभुता तथा प्रभाव को समझ सकते हैं, जिन्होंने इसे पास से देखा है । अल्मोड़ा में भगिनी निवेदिता तथा अन्य भक्त-महिलाओं के लिए भोजन पकानेवाला एक साधारण मुसलमान रसोइया भी इस पर विस्मित रह गया था । उसने मुझे लाहौर में बताया था, "स्वामीजी के प्रति व्यक्त होनेवाली इन मेम साहबों की श्रद्धा-भक्ति उससे भी कहीं बहुत अधिक है, जो हम लोगों में से कोई मुरीद (शिष्य) अपने मुर्शिद (गुरु) के प्रति दिखाता है ।"

एक ही वस्त्र तथा खड़ाऊ पहने इन भारतीय संन्यासी के समक्ष, कलकत्ते मे रहनेवाले (अमेरिकी) कौंसिल जनरल तथा उनकी पत्नी समेत उनके विदेशी शिष्य ससम्मान खड़े हो जाते थे, और बोलते समय उनकी बातें उन लोगों द्वारा बड़ी आत्मीयता तथा सादर एकाग्रता के सुनी जाती थी । उनकी छोटी-सी इच्छा भी मानो आदेश था, जिसे तत्काल पूरा किया जाता था । परन्तु विवेकानन्द पहले के समान ही निरभिमानी, सच्चे, निष्ठावान तथा गम्भीर – सीधे-सादे महात्मा थे ।

एक बार अल्मोड़ा में एक सुप्रसिद्ध तथा विशिष्ट अंग्रेज महिला उनसे भेंट करने आयी । वे हिन्दू धर्म के एक आचार्य के रूप में अपना परिचय दिया करती थीं । स्वामीजी पहले उनकी इस विषय में आलोचना कर चुके थे । वे पूछने आयी थीं कि स्वामीजी की उन पर नाराजगी का क्या कारण है । उन्होंने उत्तर दिया, "तुम अंग्रेज लोगों ने हमारे देश पर कब्जा कर लिया है, तुम लोगों ने हमारी स्वाधीनता छीन ली है, हमारे अपने घरों में ही हमें गुलाम बना रखा है और तुम लोग हमारे देश की धन-सम्पदा लूटकर ले जा रहे हो । इतने से भी सन्तुष्ट न होकर, धर्म के रूप हमारा जो बचा हुआ सहारा है, उसे भी लेकर तुम लोग हमारे धर्मगुरु बनाना चाहते हो!" उन महिला ने आग्रहपूर्वक समझाने का प्रयास किया कि वे आचार्य के रूप में नहीं बल्कि सीखने के लिए ही भारत में आयी हैं । इस पर स्वामीजी शान्त हो गये और बाद में उन्होंने उक्त महिला द्वारा प्रदत्त एक व्याख्यान की अध्यक्षता भी की ।

अगले वर्ष मैं काश्मीर में भी उनसे मिला था । हम दोनों की हाउस-बोटें एक-दूसरे के निकट बँधी थीं । फिर जब वे वापस कलकत्ते जाने लगे, तब भी कुछ दिनों के लिए वे लाहौर में मेरे अतिथि रहे । उस समय उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास था । उन्होंने पूर्ण निर्लिप्तता के साथ कहा, "मेरे जीवन के केवल तीन वर्ष ही बचे हैं और जो विचार मुझे कष्ट देता है, वह यही है कि क्या मैं अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सकूँगा?" इसके ठीक लगभग तीन वर्ष बाद उनकी इहलीला समाप्त हुई ।

उनकी महासमाधि के कुछ ही काल पूर्व बेलूड़ मठ में मैं उनसे आखिरी बार मिला था । वह श्रीरामकृष्ण की पुण्य जन्मतिथि का अवसर था । उस समय वहाँ जोरों का कीर्तन चल रहा था और वे एक आवेगपूर्ण उन्मत्तता के साथ भूमि पर लोट-लोटकर वहाँ की धूल अपने सिर पर डाल रहे थे । ...

वे भावी भारत के प्रत्येक पहलू पर विचार करते थे और उन्होंने अपना सर्वस्व भारत तथा विश्व को दे डाला । संसार उन्हें अवतारों तथा शान्तिदूतों में गणना करेगा । उनका सन्देश तीन महाद्वीपों में ससम्मान सुना गया । अपने देशवासियों के लिए वे पौरुष, अदम्य ऊर्जा तथा अपराजेय इच्छा-शक्ति की अमूल्य विरासत छोड़ गये हैं ।

भारत के लिए स्वामीजी एक शूर-वीर तथा साहसी योद्धा के रूप में, मानो एक नये दिन के प्रभात की दहलीज पर खड़े उस अद्भुत भविष्य की घोषणा कर रहे हैं, जब भारत एक बार फिर विश्व के अग्रगण्य राष्ट्रों में शामिल हो जायेगा । ❖

(प्रबुद्ध भारत, मार्च-अप्रैल १९२७)

आचार्य रामानुज (४)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

८. नाथमुनि और यामुनाचार्य

लगभग ९०८ ई. में पूर्वकथित (छठे अध्याय में) विशिष्टाद्वैत साधना की धारा श्री नाथमुनि नामक एक महापुरुष के हृदय में प्रबल वेग से प्रवाहित होकर भविष्य के महाप्लावन का संकेत देने लगी।

ज्येष्ठेऽनुराधासम्भूतं वीरनारायणे पुरे।
गजवक्त्रांशमाचार्यं आद्यं नाथमुनिं भजे ।।१४।।

– जिन्होंने वीरनारायणपुर में विष्वक सेन के दरबारी गजवदन के अंश रूप में ज्येष्ठ मास के अनुराधा नक्षत्र में जन्म लिया था, मैं उन्हीं गुरुश्रेष्ठ आचार्य नाथमुनि की अर्चना करता हूँ।

नाथमुनि एक सद्‌ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके ईश्वरमुनि नामक एक पुत्र भी हुआ था। यह पुत्र सर्वांग-सुन्दर तथा अतीव मेधावी था। युवावस्था में ईश्वरमुनि ने विवाह करके कुछ काल तक संसार-सुख का भोग किया। परन्तु शीघ्र ही उन्हें अपनी इहलीला का संवरण करना पड़ा। नाथमुनि को अपने पुत्र से बड़ा लगाव था। उसकी अकाल मृत्यु हो जाने से उन्हें अपार कष्ट हुआ। परन्तु अपने निर्मल ज्ञान के प्रभाव से वे शीघ्र ही इस मानसिक पीड़ा से मुक्त हो गये।

ईश्वरमुनि की नवोढ़ा सहधर्मिणी के कोख से एक पुत्र का जन्म हुआ। यही शिशु बाद में यामुनाचार्य के नाम से विख्यात हुआ। कहते हैं कि एक बार नाथमुनि अपनी पत्नी, पुत्र तथा पुत्रवधू के साथ तीर्थदर्शन के निमित्त आर्यावर्त का भ्रमण कर रहे थे। श्रीवृन्दावन के निकटवर्ती यमुनातट पर उनके पुत्रवधू का गर्भसंचार हुआ था, अत: पौत्र का जन्म होने पर उन्होंने उसका नाम यामुनाचार्य रखा था। नाथमुनि अपने समकालीन पण्डितों में अग्रगण्य थे। उनके समान धीसम्पन्न तथा मेधावी उन दिनों दूसरा कोई न था।

पुत्र के देहावसान के उपरान्त उन्होंने गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास ग्रहण किया। वे प्राचीन मुनियों के समान पवित्र जीवन बिताते थे, इसीलिये लोगों ने उन्हें 'मुनि' की आख्या प्रदान की थी। इसी कारण उनका नाम 'नाथमुनि' हुआ और योग में सिद्धि प्राप्त करने के कारण लोग उन्हें योगीन्द्र भी कहते थे। उन्होंने कुछ ग्रन्थ रचकर उनमें अपना मत निरूपित किया है। उनमें से 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' नामक दो ग्रन्थ चिरकाल से श्रीवैष्णव-स्मप्रदाय के परम रत्न तथा परम आदर के पात्र बने हुए हैं।

दस वर्ष की अल्प आयु में यामुनाचार्य अपने पिता को खो बैठे थे, पितामह नाथमुनि ने भी संसार छोड़कर संन्यास ले लिया था। अतएव वे अपनी वृद्ध पितामही तथा माता के साथ रहकर बड़े कष्टपूर्वक पलने लगे। परन्तु अपनी असीम विद्या-बुद्धि की सहायता से उन्होंने शीघ्र ही लक्ष्मी देवी को अपने वश में कर लिया। बारह वर्ष की आयु में उन्होंने पाण्ड्य राज्य के आधे सिंहासन पर अधिकार कर लिया था।

आषाढ़े चोत्तराषाढ़ासम्भूतं तत्र वै पुरे।
सिंहासनांशं विख्यातं श्रीयामुनमुनिं भजे ।।१५।।

– जो आषाढ़ मास के उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में उसी वीरनारायणपुर (मदुरा) में जन्मे, जो विष्णु के सिंहासन के अंशावतार के रूप मे विख्यात हैं, मैं उन्हीं यामुन मुनि का पूजन करता हूँ।

श्री यामुन मुनि के हृदय में केवल श्री विष्णु ही आसीन रहते थे और वह उनके सिंहासन-स्वरूप था। इसीलिए वैष्णण-गण उन्हें सिंहासनांश कहकर पूजते हैं। सम्भवत: ईस्वी सन् ९५३ में पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा में इनका जन्म हुआ था। किशोरावस्था के प्रारम्भ में ही उनके पिता ईश्वरमुनि ने परलोक-गमन किया, परन्तु बाल्यकाल से ही उनकी मेधाशक्ति इतनी प्रबल थी कि समस्त शास्त्रों में उन्होंने अपने सहपाठियों के बीच श्रेष्ठता दिखाई थी। उनके गुरु का नाम श्रीमद् भाष्याचार्य था। शिष्य की सर्वशास्त्रों में पटुता देखकर भाष्याचार्य उनसे अतिशय स्नेह करते थे। उनके मधुर स्वभाव ने सहपाठियों के चित्त को भी आकृष्ट किया था, वे उनसे अपना पाठ पूछने में किसी प्रकार के संकोच या अपमान का अनुभव नहीं करते थे।

९. यामुनाचार्य की राज्य-प्राप्ति

भाष्याचार्य के पास अध्ययन करते समय यामुनाचार्य की आयु केवल बारह वर्ष की थी। उन्हीं दिनों पाण्ड्य राज्य के एक सभा-पण्डित ने अपनी विद्या-प्रभा से दक्षिण के समस्त पण्डितों के गौरव को क्षीण कर दिया था। उक्त दिग्विजयी

पण्डित जिस सभा में भी जाते, वहाँ के विद्वानों को परास्त कर उनके बीच एक प्रकार का कोलाहल उत्पन्न कर देते थे । इसी कारण उनका नाम 'विद्वज्जन-कोलाहल' हो गया था । पाण्ड्यनरेश की उनके प्रति अपार भक्ति एवं श्रद्धा थी और वे अपनी सभा का अमूल्य अलंकार मानकर उनकी पूजा करते थे । राजा के आदेशानुसार जो भी पण्डित विद्वज्जन-कोलाहल के साथ तर्क मे हार जाते, दिग्विजयी दण्डस्वरूप उनसे कुछ वार्षिक 'कर' भी वसूलते थे । यामुनाचार्य के गुरु श्रीमद् भाष्याचार्य भी उन्हें इसी भाँति 'कर' देते आ रहे थे, पर धनाभाव के कारण कुछ वर्षो से उनका 'कर' देना बाकी था । अत: कोलाहल के एक शिष्य बाकी 'कर' की वसूली के लिये एक बार भाष्याचार्य के विद्यालय में आये । उस दिन व्यवस्था का भार यामुनाचार्य को सौंपकर भाष्याचार्य किसी कार्यवश बाहर गये हुए थे । बाकी शिष्य भी पाठ समाप्त कर अपने अपने घर जा चुके थे । यामुनाचार्य अकेले ही अपने आसन पर बैठे हुए थे ।

कोलाहल के शिष्य ने आकर तीक्ष्ण स्वर में उनसे पूछा, "तुम्हारे गुरुदेव कहाँ हैं?" इस पर यामुनाचार्य ने धैर्य तथा नम्रता के साथ पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं?" कोलाहल-शिष्य ने और भी रुखाई के साथ उत्तर दिया, "जानते नहीं, मैं कहाँ से आ रहा हूँ? यदि नहीं जानते तो सुन लो – जिनकी विद्याप्रभा से सारा दक्षिणी भारत उद्भासित हो रहा है, जो अन्य बुध-भुजंगो के लिये गरुड़-स्वरूप हैं, जो सर्वशास्त्र-विशारद हैं, पाण्ड्य-नरेश जिनके अनुगत दासानुदास है, जो विद्याभिमानियों का गर्व चूर करनेवाले हैं, जिन्होने सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली पर एकाधिपत्य स्थापित कर उनमें से प्रत्येक को अपना करदाता बना लिया है, जिन्हें कर न चुकाने पर पाण्ड्यनरेश के हाथों बचा नहीं जा सकता, मैं उन्हीं महानुभाव महामना का परम सौभाग्यशाली शिष्य हूँ । लगता है तुम्हारे गुरु का सिर फिर गया है, तभी तो दो-तीन वर्ष का कर उन्होंने अब तक बाकी रख छोड़ा है । वे चाहते क्या हैं? क्या वे मेरे सर्वजयी गुरु के साथ तर्क में उतरना चाहते हैं? जैसे पतंग मूढ़तावश स्वयं को अग्नि में समर्पित कर देता है, क्या तुम्हारे गुरु मे भी वैसे ही भाव का उदय हुआ है?"

गुरुनिन्दा सुनने के भय से यामुनाचार्य ने अपने कानों में उँगली डाल ली और अत्यन्त घृणापूर्वक वे कोलाहल-शिष्य से बोले, "छि छि, तुम कैसे मूर्ख हो! वैसे मूर्ख गुरु का शिष्य भी मूर्ख नही तो और क्या होगा? जैसे फल को देखकर वृक्ष के गुण-अवगुण का अनुमान किया जाता है, वैसे ही तुम्हें देखकर तुम्हारे गुरु का पाण्डित्य समझना भी मेरे लिये बाकी नहीं रहा । जो गुरु अपने शिष्य को दम्भ की शिक्षा देता है, वह शिष्य के मन को शुद्ध करने के स्थान पर उसे और भी मलिन कर डालता है, वह गुरु पूर्णत: अन्त:सार-शून्य है, इसमें भला क्या किसी को सन्देह रह सकता है? एक तिनके को उड़ाने के लिये यदि कोई प्रबल आँधी को चुनौती देता है, तो उसे महामूर्ख नहीं तो और क्या कहा जायेगा? विद्वज्जन-कोलाहल को तर्क में हराने के लिये मेरे गुरुदेव को चुनौती देकर तुमने उसी प्रकार महामूर्ख का कार्य किया है । सियार को भगाने के लिये क्या सिंह की जरूरत पड़ती है? तुम जाकर अपने पाण्डित्य-अभिमानी गुरु से बता दो कि सर्वशास्त्रविद् पूज्यपाद महानुभाव भाष्याचार्य का एक क्षुद्रातिक्षुद्र शिष्य उनके साथ तर्क करना चाहता है । यदि क्षमता और साहस हो, तो यथाशीघ्र तैयार होकर वे समाचार भेजें, मैं प्रस्तुत हूँ ।"

कोलाहल-शिष्य क्रोध से अधीर, दिशाज्ञान-शून्य होकर और प्रत्युत्तर देने में अत्यन्त घृणा का बोध करते हुए, लाल आँखें लिये अपने गुरु के पास पहुँचा और क्रोध-कम्पित-गात के साथ उन्हें क्रमश: सब कह सुनाया । विद्वज्जन-कोलाहल अपने प्रतिद्वन्द्वी की आयु सुनकर हँसी न रोक सके । राज्यसभा में उपस्थित सबने कहा कि भाष्याचार्य के शिष्य ने केवल बालसुलभ चपलता ही व्यक्त की है, इसके लिये उसे सजा देना उचित है । वह बालक उन्मादग्रस्त है या सामान्य और क्या वह सचमुच ही तर्क करना चाहता है – इसका निर्णय करने के लिये पाण्ड्यनरेश ने और भी एक व्यक्ति को भेज दिया और साथ ही कहला भेजा, "यदि वह सचमुच ही तर्क करना चाहता हो, तो उसे यथाशीघ्र यहाँ ले आना । मूर्ख की मूर्खता को ज्यादा समय तक प्रश्रय देना उचित नहीं, उसे तत्काल सजा देना ही उचित होगा ।"

राजदूत द्वारा आकर राजाज्ञा से अवगत कराने पर यामुनाचार्य ने उत्तर दिया, "मैं पूरी तौर से राजा का आदेश पालन करने को तैयार हूँ, परन्तु महाराजा से जाकर कहो कि जब मैं पण्डित के समान पण्डित के साथ तर्क करने जा रहा हूँ, तो फिर वे मुझे पण्डित के योग्य सम्मान देकर यहाँ से ले जायँ; तात्पर्य यह कि या तो वे पालकी आदि भेजें या फिर विद्वज्जन-कोलाहल को ही यहाँ भेजें; यहीं पर हम दोनों का तर्क हो जाय ।"

दूत ने लौटकर राजा तथा उनके सभासदों को इस बात से अवगत कराया । काफी वाग्वितण्डा के बाद निश्चित हुआ कि पालकी आदि भेजना ही उचित होगा । तदनुसार सौ पहरेदारों के साथ एक पालकी भेज दी गयी ।

इधर भाष्याचार्य ने जब घर लौटकर सुना कि उनके शिष्य ने कालसर्प रूपी विद्वज्जन-कोलाहल पर पदाघात किया है, तो वे अपने जीवन की आशा छोड़कर मानो अचेत हो गये । क्योंकि वे जानते थे कि पाण्ड्यनरेश दयावान होने के बावजूद, जो भी उनके परमप्रिय सभापण्डित की अवहेलना करता है, उसके प्रति वे अत्यन्त निर्दयतापूर्ण आचरण करते हैं,

यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड देने से भी नहीं हिचकते । शिष्य यामुनाचार्य उन्हें बारम्बार सान्त्वना देते हुए कहने लगे, "आपके भयभीत होने का कोई कारण नहीं है । आपके आशीर्वाद से मै निश्चय ही कोलाहल का गर्व चूर्ण करूँगा, इस विषय में आप निश्चिन्त रहें ।" उसी समय प्रहरियों के साथ पालकी विद्यालय के सम्मुख आ पहुँची । बालक यामुनाचार्य एक महापण्डित के समान गम्भीरतापूर्वक श्रीगुरुदेव की पादवन्दना करके पालकी में सवार हुए । मार्ग में और भी बहुत से लोग साथ हो लिये ।

यह एक अभूतपूर्व घटना थी । एक बालक सर्वप्रधान सभापण्डित के साथ शास्त्रीय द्वन्द्व करने निकला था; अतएव चारों ओर से बाल-वृद्ध-वनिता सभी शीघ्रतापूर्वक उस अद्भुत बालक को देखने आ जुटे । ब्राह्मण पण्डितगण उन्हें हृदय खोलकर आशीर्वाद देते हुए कहने लगे, "हे बालक, जैसे भगवान ने वामन का रूप धारणकर बलि को राज्य और पद से च्युत कर दिया था, हमारा आशीर्वाद है कि तुम भी उसी प्रकार आज उस दम्भी पाण्डित्याभिमानी विद्वज्जन-कोलाहल के गर्वगिरि को चूर्ण करके लौटो ।" इसी प्रकार सहस्रों नर-नारी उनकी पालकी के पीछे पीछे राजद्वार तक जा पहुँचे ।

इस बीच राजसभा में राजा और रानी के बीच यामुनाचार्य के विषय में मतभेद उत्पन्न हो चुका था । राजा ने कहा, "जैसे बिलाव चूहे का नाश कर डालता है, वैसे ही कोलाहल भी इस बालक को विध्वस्त और परास्त कर डालेगा ।" इस पर रानी ने उत्तर दिया, "जिस प्रकार रूई के विशाल ढेर को एक चिनगारी ही भस्मीभूत कर डालती है, वैसे ही यह छोटा-सा बालक आज कोलाहल के गर्वप्रासाद को धरासायी कर डालेगा ।" राजा ने कहा, "हे रानी, तुम स्त्री हो, अल्पबुद्धि हो, इसीलिये तुम कोलाहल की गहन विद्वत्ता की धारणा नहीं कर पा रही हो । इसी कारण बालक ने तुम्हारा चित्त आकृष्ट कर लिया है ।" रानी ने उत्तर दिया, "महाराज, आप चाहे जो कहिए, पर आज विद्वज्जन-कोलाहल का गौरवसूर्य चिरकाल के लिये अस्त होगा और उसके स्थान पर समस्त नर-नारियों को पुलकित करते हुए नवीन बालसूर्य की मधुर आभा से दिग्दिगन्त आलोकित होगा, इस पर मुझे कण मात्र भी सन्देह नही है ।" राजा ने नाराज होकर कहा, "यदि ऐसा ही है, तो क्या तुम शर्त लगाओगी?" रानी ने उत्तर दिया, "यदि ऐसा न हो तो मैं आपके क्रीतदासी की भी क्रीतदासी बन जाऊँगी ।" राजा ने कहा, "अरी मुग्धे, तूने बड़ा कठिन शर्त लगाया । अब मैं भी कहता हूँ कि यदि बालक कोलाहल को परास्त कर देगा, तो मैं उसे अपना आधा राज्य दे दूँगा ।"

राजा और रानी के बीच इसी भाँति वाद-विवाद चल रहा था कि उसी समय यामुनाचार्य ने पालकी से उतरकर राजा, रानी तथा सभासदों का अभिवादन किया और उनका आदेश पाकर वे विद्वज्जन-कोलाहल के सामने स्थित आसन पर बैठ गये । बालक का छोटा शरीर और कम आयु देखकर कोलाहल ने उच्च हास्य के साथ रानी पर कटाक्ष करते हुए कहा, "अल वन्दारा?" अर्थात् "क्या यही लड़का मुझे जीतने आया है?" उन्होंने उत्तर दिया, "अल वन्दार ।" अर्थात् "हाँ, ये ही तुम्हें जीतने आये हैं ।"

प्रारम्भ में उन्हें बालक समझकर कोलाहल ने व्याकरण, अमरकोष आदि ग्रन्थों से सरल सरल प्रश्न पूछे । परन्तु यामुनाचार्य को सहज ही उनका उत्तर देते देख वे क्रमश: कठिन से कठिनतर प्रश्न पूछने लगे । यामुनाचार्य खेल खेल में ही उन सबका उत्तर देते हुए कोलाहल से बोले, "आप मुझे बालक देखकर मेरी अवज्ञा कर रहे हैं । इसी से मुझे आपकी बुद्धिमत्ता का परिचय मिल चुका है । जब महर्षि अष्टावक्र ने जनक-सभा में 'बन्दी' को परास्त किया, उस समय वे बालक थे या आपके समान वृद्ध? क्या आप आकार देखकर ही पाण्डित्य का तारतम्य निर्धारित करते हैं? तो फिर आपकी युक्ति के अनुसार एक बड़ा बैल आपसे बड़ा पण्डित होगा । मेरा धारणा थी कि आप एक महाविज्ञ हैं, पर आपके सिद्धान्त की असारता देखकर अब मेरी धारणा पलट गयी है ।"

ऐसा श्लेष एवं कटाक्ष सुनकर मर्माहत होने के बाद भी कोलाहल ने अपने हृदय का भाव छिपाकर हँसते हुए कहा, "वाह, अच्छा उत्तर दिया है; अब तुम प्रश्न करो और मैं उत्तर दूँगा ।" बालक ने कहा, "आपने मानो दया करके ही मुझे छोड़ दिया है! यथासाध्य प्रश्न करके जब आपने देख लिया कि यह बालक परास्त होनेवाला नहीं है, तभी आपने मुझे प्रश्न करने का मौका दिया है । अस्तु, आपकी इच्छानुसार मैं आपके सामने तीन बातें रखता हूँ । उन तीनों का खण्डन कर देने से ही मैं आपके समक्ष पराजय स्वीकार कर लूँगा ।" कोलाहल ने अधीर होकर कहा, "बोलो, अब विलम्ब करने की जरूरत नहीं?"

बालक यामुनाचार्य ने कहा, "मेरा पहला प्रश्न यह है कि आपकी माता वंध्या नहीं हैं – आप मेरे इस कथन का खण्डन करें ।" कोलाहल ने सोचा – यदि मेरी माता वंध्या होतीं, तो फिर मेरा जन्म ही असम्भव है । तथापि बालक के मत का खण्डन न कर पाना भी बड़े लज्जा की बात है । अब क्या करना उचित है? हो सकता है कि इस दुष्ट ने मुझे ठगने के लिये ही ऐसा अनुचित और असम्भव प्रश्न किया हो । तो भी इस समय मौन धारण किये रहना ही उचित होगा ।

कोलाहल के किंकर्तव्यमूढ़ के समान मौनवृत्ति का अवलम्बन कर लेने पर सभासदगण अत्यन्त विस्मित रह गये । इन दाम्भिकाग्रगण्य पाण्डित्याभिमानी ने अपने वाग्जाल को फैलाकर

समस्त विद्वन्मणडली को अपने अधीन कर लिया था और आज एक बालक के प्रश्न पर निरुत्तर होकर धूप में कुम्हलाई हुई लता के समान अवसन्न हो रहे थे । कोलाहल द्वारा अपना मनोभाव यथासाध्य गुप्त रखने का प्रयास करने पर भी, वस्तुत: उस समय उनका आरक्त गाल और उनका थोड़ा झुका हुआ मुखमण्डल उनकी असीम पीड़ा का सुस्पष्ट परिचय दे रहा था । कुछ काल इसी प्रकार बीत जाने के बाद यामुनाचार्य ने अपना दूसरा प्रश्न उपस्थित किया, "महाशय, आप मेरे पहले मत का अपनी दिग्विजयी बुद्धि के द्वारा खण्डन करें; इसके बाद दूसरा मत भी बता रहा हूँ – मेरा मत है कि पाण्ड्यनरेश महा धर्मशील हैं । आप इसका खण्डन करें ।"

बालक की वाक्चातुरी को समझ कोलाहल को अब सब कुछ अन्धकारमय दिखने लगा । क्या कहें – सोचकर वे कुछ भी निश्चित नही कर पाये । यदि वे कहें कि राजा अधार्मिक हैं, तो सम्भव है सामने बैठे राजा उन्हें तुरन्त प्राणदण्ड की सजा सुना दें । जो राजा उनके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करते हैं, क्या वे उन्ही राजा को अकृतज्ञ के समान कभी अधार्मिक कह सकेगे? उन्होंने सोचा – बालक वास्तव में मेरा सर्वनाश करने आया है । यह विचार आते ही उनका चेहरा उतर गया । वे अपने हृदय का भाव अब छिपाकर नहीं रख सके । उनके मुख पर क्रोध के चिह्न उभर आये । तभी यामुनाचार्य ने अपना तीसरा प्रश्न रखा, "हे पण्डित-सन्तापक, तीसरे प्रश्न के रूप में मेरा कथन है कि सामने बैठीं रमणी-कुल-गौरव महारानी सावित्री के समान साध्वी हैं । आप इसका खण्डन करें ।"

कोलाहल अब लज्जा और क्रोध से बिल्कुल ही अभिभूत हो उठे थे और अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए वे बोले, "हे बालक, तुमने जो प्रश्न किये हैं, उन सबका उद्देश्य केवल मेरे मुख को बन्द करना है । कोई भी राजभक्ति-परायण व्यक्ति क्या कभी अपने राजा और रानी को अधार्मिक तथा असती कह सकता है? अत:, भले ही मेरा मुख बन्द हो गया है, परन्तु इसी कारण मैं परास्त हो गया, ऐसी बात नहीं है । अपने इन षड़यंत्रपूर्ण मतों का खण्डन अब तुम्हें ही करना होगा । यदि नहीं कर सके, तो राजा के आदेश से तुम्हारा प्राणदण्ड होना उचित है, क्योंकि अपने अन्तिम दोनों प्रश्नों के द्वारा तुमने परोक्ष रूप से राजा और रानी दोनों के प्रति कटु बातें कही हैं । अतएव, अब बेकार समय न गँवाकर तुम स्वयं ही अपने मतों का खण्डन करो ।" क्रोध में अधीर लाल आँखों के साथ जब कोलाहल ऊँची आवाज में इस प्रकार बोल उठे, तो उनके पक्ष के लोग 'धन्य, धन्य' कह उठे और यामुनाचार्य के पक्षधर कहने लगे, "कोलाहल की पहले ही पराजय हो चुकी है, क्योंकि उन्होंने प्रश्न उठाने के पहले ही वचन दिया था कि वे यामुनाचार्य के तीनों मतों का खण्डन कर डालेंगे; खण्डन न कर पाने के कारण वे क्रोधित हो गये हैं । क्रोध पराजय का चिह्न है, वह कभी विजय का लक्षण नहीं हो सकता ।" इस प्रकार कोलाहल के विषय में चारों ओर कोलाहल उत्पन्न हो जाने पर यामुनाचार्य ने मृदु हास्य के साथ कहा, "आप सभी शान्त हों । मैं इन मतों का एक एक कर खण्डन करूँगा, आप लोग मौन रहकर सुनें ।

"हे पाण्डित्य-अभिमानी कोलाहल, आप तीन सरल मतों का भी खण्डन नहीं कर सके, तथापि आप स्वयं को विद्वन्मण्डली का अग्रणी कहकर गर्व करते हैं । आज आपका वह अहंकार नष्ट हुआ । मैं एक एक कर प्रत्येक मत का खण्डन करता हूँ, सुनिए ।

"प्रथमत: आपकी माता पुत्रवती होकर भी वंध्या हैं, क्योंकि वे एकपुत्रा हैं । शास्त्रों में कहा गया है कि जिन नारी के केवल एक ही सन्तान हो, वे अपुत्रा या वन्ध्या मानी जाएँगी –

एकपुत्रो ह्यपुत्र इति लोकवादात् ।[१]

अत: आपकी माता आपके समान महागुणवान पुत्र का प्रसव करके भी शास्त्रों के अनुसार वन्ध्या के रूप में ही गण्य होंगी ।

"द्वितीयत: कलि में धर्म एकपाद तथा अधर्म त्रिपाद होता है । धर्मशास्त्र में है –

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षत: ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षत: ।।[२]

अर्थात् प्रजापालक राजा प्रजा द्वारा अनुष्ठित धर्म का छठवाँ भाग प्राप्त करता है और प्रजापालन में अक्षम होने पर उनके पाप का छठवाँ हिस्सा भी उसे ग्रहण करना पड़ता है । जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि कलिकाल में अधर्म का ही प्राबल्य होता है, अत: राजा चाहे जितना भी अच्छा शासक क्यों न हों, वे प्रजा को कभी पूर्ण रूप से धार्मिक नहीं कर सकते । कलि के प्रभाव से प्रजा स्वाभाविक रूप से ही अधर्मशील होती है । इसलिये प्रजावर्ग द्वारा अनुष्ठित अधर्म का छठवाँ हिस्सा राजा को ग्रहण करना ही पड़ता है । अतएव राजा को सर्वाधिक पापभार वहन करना पड़ता है, इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण हैं ।

"तृतीयत: मनु कहते हैं –

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्क: सोम: स धर्मराट् ।
स कुबेर: स वरुण: स महेन्द्र: प्रभावत: ।।३

अर्थात् राजा साक्षात् अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण तथा इन्द्र हैं । ये उन्हीं के प्रभाव से प्रकाशित होते हैं ।

१. मनुसंहिता, ९/६१ (मेधातिथि भाष्य)
२. वही, ८/३०४ ३. वही, ७/७

अतएव रानी एकमात्र राजा की ही पाणिगृहीता हों, ऐसी बात नहीं । राजा के अतिरिक्त वे अष्ट-लोकपालों की भी पत्नी होकर रहती हैं । इसलिये उन्हें सती किस प्रकार कहेंगे?''

यामुनाचार्य के इस मनोहर खण्डन-चातुर्य को देखकर सभासदगण विस्मय तथा हर्ष से उत्फुल्ल हो उठे । रानी आनन्दाश्रु बहाते हुए, ''आलवन्दार, आलवन्दार अर्थात् ''कोलाहल, बालक सचमुच ही तुम्हें जय करने आया है'' कहकर मनोहारी हर्षध्वनि कर उठीं । तब से यामुनाचार्य 'आलवन्दार' नाम से विख्यात हुए ।

इसके बाद रानी उन्हें गोद में बैठाकर बारम्बार उनका मुख चूमने लगीं । राजा ने भी परम स्नेहपूर्वक उनसे कहा, ''हे आलवन्दार, आज अपने पाण्डित्य तथा वाक्चातुरी से तुमने सबको मुग्ध कर लिया है । दम्भी कोलाहल पूरी तौर से परास्त होकर सूर्य के सामने एक क्षुद्र तारे के समान स्वयं को इस विशाल सभा में छिपाने का प्रयास कर रहा है । अपने विद्याभिमान में मोहित होकर कोलाहल साधुहृदय विद्वानों के मनस्ताप का कारण हो गया था, आज उन्हीं के दीर्घ निःश्वास से उसका मर्मस्थल दग्ध हो रहा है । जिस व्यक्ति ने अभी अभी क्रोधान्ध होकर तुम्हारे प्राणदण्ड की कामना की थी, मैं उसी मूढ़ात्मा पण्डित को तुम्हारे हाथों में सौंपता हूँ; उसे लेकर, तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो । इसके साथ ही अपनी विजय के फलस्वरूप मेरा आधा राज्य लेकर मेरी प्रतिज्ञा से मेरा उद्धार करो ।'' यह कहकर उन्होंने रानी के पास से लेकर उन्हें अपने सिंहासन के एक अंश पर आसीन कराया । सभी सभासद तुमुल हर्षध्वनि कर उठे ।

कहना न होगा कि आलवन्दार ने दिग्विजयी को क्षमा कर दिया । पाण्ड्यराज्य का आधा भाग प्राप्त करने के बाद, बालक होने के बावजूद वे बड़ी दक्षतापूर्वक राज्य का शासन चलाने लगे । पड़ोस के दो-एक राजाओं ने उन्हें बालक समझकर उनके राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगे । उनके दलबल सहित चढ़ आने के पूर्व ही, आलवन्दार ने अपने गुप्तचरों से इसकी सूचना पाकर, सहसा उनके राज्य में पहुँच कर इतने कौशल तथा दक्षता के साथ आक्रमण किया कि उन लोगों ने किंकर्तव्यविमूढ़ होकर आखिरकार पराजय स्वीकार कर ली और उनके करदाता तथा मित्र बनकर स्वयं को कृतार्थ माना । ❖ (क्रमशः) ❖

गीता का सार

दुर्गाप्रसाद झाला

जिओ अपेक्षाहीन, करो नित अनासक्त हो कर्म
सर्व भूत हित श्रेय-साधना ही हो जीवन-धर्म ।
सुख-दुख-धूप-छाँव जीवन के अपरिहार्य हैं अंग
सहज भाव स्वीकारो इनको मानस रहे अभंग ॥

ज्ञान-कर्म-सद्भाव-भक्ति में लीन रहें ये प्राण
'मैं सबमें हूँ, सब मुझमें हैं' - सदा रहे यह ध्यान ।
अविचल बुद्धि रहे, सत् पथ पर रहो सदा गतिमान
कुण्ठित कर न सकें तव मन को मान और अपमान ॥

क्षुद्र हृदय की दुर्बलता से रहो मुक्त निर्द्वन्द्व
क्लैव्य-दैन्य से नहीं कभी हो जीवन-आभा मंद ।
नहीं सुखेच्छा रहे, दुखों से मत होना उद्विग्न
राग-द्वेष-भय-क्रोध-मुक्त हो, कभी न होओ खिन्न ॥

रहो सदा आत्मा में स्थित पाओ मनःप्रसाद
चित्त समाहित हो विराट् में कभी न हो अवसाद ।
यज्ञ-कर्म की दीप्त शिखा में होमो अपना स्वत्व
प्रकृति-प्रदत्त भोग भोगो, पर हो उनसे पृथकत्व ॥

सदा स्वधर्म-निरत रहकर पालो अपना कर्तव्य
सिरजो अपने कर्म-क्षेत्र में सुन्दर, शिव औ' सत्य ।
क्षणभंगुर सुख-सुविधाओं से कभी न होवे मोह
नश्वर विषय-वासना में रम, करो न निज से द्रोह ॥

संयत हो आहार, आचरण, जाग्रत और सुषुप्ति
युक्त कर्म की सहज साधना से ही मिलती मुक्ति ।
निर्मल बुद्धि, हृदय निर्मल हो, निर्मल हो आचार
निर्मलता से ही मिलता है परमानन्द अपार ॥

परा और अपरा दोनों ही परम प्रकृति के तत्त्व
दोनों में ही विद्यमान है दिव्य शक्ति का सत्त्व ।
प्रलय और सर्जन दोनों में व्याप्त एक ही शक्ति
अहं-मुक्त हो, अस्तियुक्त जो, करो उसी की भक्ति ॥

नश्वर है यह देह, आत्मा अक्षर-अव्यय-सत्य
जन्म-मरण से परे अजन्मा, शाश्वत, नित्य, अवध्य ।
अतः अभय हो करो न्याय के लिये सतत संघर्ष
जीवन-पथ पर कभी न व्यापे चिन्ता, शोक, अमर्ष ॥

उत्तेजना से दुःख

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य का मन ऐसे साँचे में ढला है कि तनिक प्रतिकूलता से वह उत्तेजित हो उठता है। परन्तु केवल परिस्थितियों की प्रतिकूलता ही उसकी मानसिक उत्तेजना का कारण नहीं बनती, बल्कि काम, क्रोध और लोभ के मानसिक वेग भी उसे उत्तेजित कर देते हैं। उत्तेजना में मनुष्य अपना आपा खो बैठता है और उसका विवेक दब जाता है, जो कदापि मनुष्योचित नहीं कही जा सकती। फिर वह पशु के समान ही इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है। वह गुरुजनों तक का अपमान कर बैठता है और कभी कभी तो उत्तेजित होकर हत्या का जघन्य दुष्कृत्य भी कर डालता है।

काम, क्रोध और लोभ के वेग उत्तेजना के सशक्त कारण होते हैं, यह हम कह चुके हैं। गीता में एक श्लोक आता है –

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

– काम, क्रोध और लोभ – ये तीनों नरक के द्वार हैं, ये आत्मा का नाश करनेवाले हैं अर्थात् उसकी अधोगति के कारण होते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। फिर गीता में ही अन्यत्र काम और क्रोध को महापेटू और महापापी कहा गया है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था –

> अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
> अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

– मनुष्य किससे प्रेरित होकर न चाहता हुआ भी बल-पूर्वक लगाये हुए के समान पाप का आचरण करता है?

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण काम व क्रोध को इसका कारण बताते हैं। तात्पर्य यह कि उत्तेजना ही सब प्रकार के दुष्कर्मों और पापों की जड़ है। वह मनुष्य के पारिवारिक और सामाजिक जीवन को दुःखमय कर देती है। इसलिए मनुष्य को उत्तेजित होने से बचना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि वह कैसे बचे? इसका उत्तर है – उत्तेजना के कारणों को दूर करके। उत्तेजना का एक कारण तो स्नायविक दुर्बलता है, जिसे दवा ठीक कर सकती है। पर जब उत्तेजना के मूल में काम, क्रोध, लोभ का वेग हो, तो ऐसे समय उत्तेजना की स्थिति में कोई क्रिया नहीं करने की आदत डालना मनुष्य की रक्षा करना है। इसके लिए मन में सब समय यह विचार उठाते रहने का अभ्यास करना चाहिए कि 'मैं उत्तेजना के क्षणों में कुछ नहीं करूँगा'। काम, क्रोध, लोभ के वेग आयेंगे, पर यह अभ्यास 'ब्रेक' का काम करेगा और उत्तेजना को मन के धरातल तक ही सीमित रखकर, उसे शरीर के धरातल पर नहीं उतरने देगा। हमारा यह अभ्यास हमें अनुचित करने से बचा देगा। क्रोधादि के वेग के समय मन विवेक से शून्य हो जाता है और मानो हम बरबस वह कर बैठते हैं, जो नहीं चाहते। पर उत्तेजना की स्थिति में कुछ भी न करने का निश्चय यदि हम सब समय मन के धरातल पर उठाते रहें, तो यह अभ्यास हमारा रक्षक बनेगा। हो सकता है कि हम कुछ बार असफल हों, पर उससे हम हतोत्साहित न हों और वैचारिक अभ्यास का क्रम न तोड़ें। हमें सफलता मिलेगी। ❑

जीना सीखो (४)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने ने युवकों को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

एक छात्र की आपबीती

गुण्डन्ना नाम का एक युवक गाँव के स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद महाविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने शहर में आया । उसके माता-पिता इतने धनवान नहीं थे कि उसकी उच्च-शिक्षा का व्ययभार उठा पाते । तथापि उसकी तीव्र इच्छा तथा अध्यापकों के प्रोत्साहन से उसके पिता ने उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने हेतु ऋण लेकर उसे पढ़ाई के लिए महाविद्यालय भेजा । गाँव छोड़कर जाते समय उसकी माता ने सजल नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए कहा, "बेटा, मन लगाकर पढ़ना, तुम जानते हो कि तुम्हारे पिता तुम्हारी शिक्षा के लिये कितना कष्ट उठा रहे हैं । तुम्हारे छोटे भाई-बहनों को भी पढ़ाना है । तुम वहाँ जाकर समय बरबाद मत करना ।" माँ की चिन्ता देखकर वह अभिभूत हो गया और उसने हामी भर दी । गॉव छोड़ने से पहले उसने हनुमानजी के मन्दिर में जाकर उनसे प्रार्थना भी की ।

कॉलेज तथा छात्रावास के नये वातावरण में ढलते उसका कुछ समय बीत गया । १०० से भी अधिक छात्रों की कक्षा में अब उसका महत्व भी कम हो गया था । कोई उसे मार्ग बतानेवाला नहीं मिला । किसी की सलाह पर उसने ऐसे विषय चुन लिये, जो उसकी रुचि के अनुकूल न थे । संकल्प तो उसने नियमित तथा एकाग्रचित्त होकर पढ़ने का किया था, परन्तु वह उस पर चल नहीं सका । कुछ समय बाद पढ़ाई उसके समझ से बाहर हो गई और वह ऊबने लगा । क्रमश: उसका आत्मविश्वास जाने लगा और एक अज्ञात आशंका ने उसके मन पर अधिकार जमा लिया । वह सोचने लगा – मुझे यह क्या हो रहा है । शिक्षकों से परिचित होने के बावजूद वह उनसे मिलकर उन्हें अपनी चिन्ताओं के विषय में अवगत कराने का साहस नही जुटा सका । मित्रों ने समझाया, "इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है । बस, परीक्षा के पूर्व तुम्हें १-२ महीने जमकर पढ़ाई करनी होगी और निश्चित रूप से तुम प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हो जाओगे ।"

उनकी बातों से उसे दिलासा मिली । वह कॉलेज के विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लेने लगा; नाटक व फिल्में देखने लगा । नगर के आकर्षणों ने उसके चित्त को विभ्रान्त कर दिया था । नागरी जीवन के चकाचौंध ने उसके हृदय को जीत लिया था । वह मानो एक कल्पना-लोक में विचरण करने लगा । समय मिलने पर वह मित्रों के साथ ताश की बाजियों में भी अपनी कुशलता दिखा देता था । इसी प्रकार दिन बीतते गये और आखिरकार परीक्षा सिर पर आ पहुँची । अब उसे होश आया । समय से तथा उचित भोजन की परवाह किये बिना वह रात रात भर पढ़ने लगा । निद्रा को दूर भगाने के लिये वह दवाइयाँ लेता और धूम्रपान करता । परीक्षा ज्यों ज्यों निकट आयी, त्यों त्यों उसकी चिन्ता भी बढ़ती गयी । पुस्तकें उसे बोझिल प्रतीत होने लगी । वह उस वर्ष की परीक्षा छोड़कर अगले वर्ष उसमें बैठने की सोचने लगा । आखिरकार किसी तरह परीक्षा में कुछ लिखने के बाद अपने बुरे स्वास्थ्य तथा दुखी मन:स्थिति के साथ वह गाँव लौट आया । परिवार के लोगों ने सोचा कि पढ़ाई के कठोर परिश्रम के कारण ही वह थका-थका-सा दीख रहा है, अत: उसकी अच्छी देखभाल की गयी । परीक्षाफल निकलने पर पता चला कि उसका नाम उत्तीर्ण हुए छात्रों में न था । इसके लिए उसने अपने भाग्य को दोष दिया और बोला कि उसके ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति ठीक नहीं थी । उसने अपने अध्यापकों पर लापरवाही का आरोप लगाया । कभी कभी तो वह इतना परेशान हो जाता कि आत्महत्या करने की बात सोचने लगता था ।

गुण्डन्ना के पास एक जीवन-लक्ष्य था । कॉलेज में प्रवेश लेते समय उसकी इच्छा भी उत्तम थी, परन्तु उसनें अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मार्ग का चुनाव ठीक ढंग से नहीं किया था । वह उचित संगति नहीं चुन सका । उसने अपने इधर-उधर जा रहे मन पर अंकुश नहीं लगाया । वह अपने कर्तव्य में ठीक ठीक मनोनिवेश नहीं कर सका । उसने पढ़ाई के लिए किसी व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण नहीं किया । वह यह बात समझने में असफल रहा कि साधनों पर समुचित ध्यान देना ही जीवन में सफलता प्राप्त करने का महान् रहस्य है ।

लगन की शक्ति

मेरे एक मित्र को हाईस्कूल पास करने के बाद आजीविका के लिए एक संस्था में नौकरी करनी पड़ी । परिवार के भरण-पोषण के लिये उसे प्रतिदिन आठ घण्टे परिश्रम करना पड़ता था । परन्तु वह एक प्राइवेट छात्र के रूप में एम. ए. परीक्षा बैठा । उसने मुझे बताया, "मुझे ५९% अंक मिले थे । प्राइवेट परीक्षार्थी होने के कारण मुझे प्रथम श्रेणी नहीं दी गई ।" वह जन्म से बुद्धिमान नहीं था । मैंने पूछा, "इन चिन्ताओं के बीच

तुम पढ़ाई कैसे कर सके?" उसका उत्तर रोचक पर महत्वपूर्ण था, "मैं धीरे धीरे ऊपर उठा, इसीलिए चढ़ाई कठिन नहीं लगी।" परीक्षा की तैयारी के रूप में वह नित्य नियमित रूप से गम्भीरतापूर्वक दो घण्टे पढ़ता था।

जब हम क्रीड़ा, संगीत या व्याख्यान आदि किसी भी क्षेत्र में सफल हुए विशिष्ट व्यक्तियों को देखते हैं, तो हम उनकी उपलब्धियों को प्रकृति-प्रदत्त मान लेते हैं और सोचते हैं कि हम कभी उनके समान नहीं हो सकते। परन्तु हमें भूलना नहीं चाहिये कि उनकी आपात-दृश्यमान विलक्षण सफलता के पीछे वर्षों का नियमित अभ्यास रहा है। वर्षों के कठिन परिश्रम के द्वारा कोई उपलब्धि कर लेने में भला क्या चमत्कार हो सकता है? यद्यपि हो सकता है कि वैसी सफलता पाना हमारे लिए सम्भव न हो, तथापि किसी के द्वारा वर्षों के कठोर परिश्रम से इसकी उपलब्धि करना क्या स्वाभाविक नहीं है? अध्यवसाय या लगन ही हमारी शक्ति का आधार है।

जब हम जल्दबाजी में किसी बड़ी या महत्वपूर्ण उपलब्धि के लिए प्रयास करते हैं, तो हमें प्राय: हताश तथा निराश हो जाना पड़ता है। पर हमें याद रखना होगा कि हजार मील की लम्बी यात्रा की शुरुआत भी एक छोटे-से कदम से ही होती है। हर महान् विजय के पीछे अनेक छोटे छोटे प्रयास रहा करते हैं। जब हम जी-जान लगाकर छोटे कार्य पूरे कर लें, तभी हम आशा कर सकते हैं कि हमारा आगे का बड़ा कार्य महान् उपलब्धियाँ लायेगा।

एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "ज्यों ज्यों मेरी आयु बढ़ती जाती है, त्यों त्यों मैं बड़े तथा महान् व्यक्तियों में देखता हूँ कि वे अपने छोटे कार्यों का कैसे सम्पादन करते है। यदि तुम किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। हर मूर्ख किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन सकता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान् व्यक्ति के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी किसी-न-किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् तथा सम रहता है।"

अनु बन्द्योपाध्याय द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'बहुरूपी गाँधी' नामक पुस्तक ने मुझे मुग्ध कर लिया। महात्मा गाँधी के महान् गुणों को व्यक्त करनेवाली यह पुस्तक उन्होंने बच्चों के लिए संकलित की थीं। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि इसे एक अनौपचारिक पाठ्य-पुस्तक के रूप में हमारे स्कूलों द्वारा क्यों नहीं अपनाया जाता? यह पुस्तक कठोर परिश्रम का महत्व तथा उसकी पद्धति बताकर युवा पीढ़ी को प्रेरणा तथा शक्ति प्रदान कर सकती है। इसे पढ़ने से अनुभव होता है कि गाँधीजी की दैनन्दिन क्षण-प्रति-क्षण के कार्यों से भी उनकी महानता का भाव व्यक्त हुआ करता था।

कुछ लोगों की दृष्टि में छोटे-मोटे कार्य ऊबाऊ होते हैं। वे लोग छोटी चीजों को तुच्छ तथा ध्यान देने के अयोग्य समझते हैं। उन पर ध्यान देना उन्हें अपने स्वाभिमान के विरुद्ध लगता है। परन्तु महान् लोग जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं में भी अपनी महानता दर्शाते हैं। वे जीवन की छोटी-मोटी चीजों में भी लापरवाही नहीं दिखाते। मार्ग का हर इंच सहज होने पर ही पूरा मार्ग सहज होता है।

योग्यता का मापदण्ड

एक बार सुप्रसिद्ध शिल्पकार माइकेल एंजेलो के स्टूडियो में एक कलाप्रेमी आया। माइकेल एंजेलो उसे अपनी निर्माणाधीन मूर्ति के विषय में बता रहे थे। वह कलाप्रेमी पहले भी उस मूर्ति-रचना के प्रारम्भिक चरणों को देखने आ चुका था। माइकेल एंजेलो ने उसे बताया कि इस दौरान उन्होंने क्या क्या किया – "मैंने मूर्ति के इस हिस्से को थोड़ा बदला, बाँहों को थोड़ा सबल बनाया, होठों की मुस्कान में और भी अधिक भावुक अभिव्यक्ति लाया और इसमें जहाँ-तहाँ थोड़ी खुदाई की, ताकि यह थोड़ा अधिक बलवान दिखे।" कलाप्रेमी ने मानो दोषारोपण के स्वर में कहा, "अच्छा, इतने दिन आप बस ये छोटे-मोटे कार्य ही करते रहे?" माइकेल एंजेलो ने दृढ़ मुस्कान के साथ कहा, "देखो, ये छोटे-मोटे कार्य ही पूर्णता में योगदान करते हैं। छोटी चीजों से पूर्णता आती है, पर पूर्णता छोटी नहीं होती। छोटी वस्तुओं का ऐसा ही महत्व है और यही नियम जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू होता है।"

तुमने सुना होगा कि एक लेखक की कलम रखने की रीति ही उसका महत्व जता देती है। यह सत्य है। एक व्यक्ति के छोटे-मोटे कार्य सम्पन्न करने की पद्धति से ही तुम उसकी योग्यता, आचरण तथा स्वभाव का आकलन कर सकते हो।

किसी लड़के को एक खिड़की साफ करने के कार्य में लगा कर देखो। यदि वह उसे केवल ऊपर ऊपर से झाड़ दे और उसके कोनों तथा किनारों की सफाई न करे, तो तुम उसके कार्यकुशलता की प्रशंसा नहीं कर सकते।

कमरे में झाड़ू लगाती हुई बालिका को देखो। यदि वह सारा कूड़ा कोनों में सरका देती है और सफाई में लापरवाही बरतती है, तो तुम्हें लगेगा कि आगे चलकर वह एक अच्छी गृहिणी नहीं बन सकेगी।

गैरेज में कार की सफाई करनेवाले व्यक्ति को देखो। उसकी कार्य करने की पद्धति का निरीक्षण करके ही तुम कह सकोगे कि वह एक उत्तम कारीगर बनेगा या नहीं।

कार्य में लगा प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व का चलचित्र होता है । आलसी तथा अस्थिर मनवाला व्यक्ति एक सहज-सरल कार्य को भी बुरे ढंग से करता है । एक दिन के परिश्रम से कभी अच्छे फल की आशा नहीं की जा सकती । अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए हमें हर कदम पर ध्यान देना होगा और देखना होगा कि हमारी प्रगति स्थिर तथा निश्चित रहे ।

याद रहे – छोटी छोटी चीजों को नजरन्दाज मत करो; वल्कि उन्हें कुशलता तथा रुचि के साथ निपटाओ । धैर्य बनाए रखो । एक एक कदम आगे बढ़ो । यदि मार्ग ठीक है, तो तुम लक्ष्य तक अवश्य पहुँचोगे ।

जल्दबाजी क्यों?

कुछ लोग हमेशा ही जल्दी में होते हैं । वे दफ्तर से दौड़ते हुए घर लौटते हैं, हड़बड़ी में खाना खाते हैं और हर चीज में टाँग अड़ाते हैं । परन्तु वे कोई भी कार्य पूरा नहीं करते । वे सदा कहते रहते हैं – 'जल्दी करो'। बच्चे के पाँच वर्ष का होने के पहले ही वे उसे स्कूल की तीसरी कक्षा में प्रवेश दिलाना चाहते हैं । उन्हें इतनी जल्दबाजी होती है कि वे रेलगाड़ी पकड़ने के लिये दौड़कर स्टेशन पहुँचते हैं । फिर गाड़ी छूटने के बाद उन्हें याद आता है कि कोई आवश्यक वस्तु घर में रह गयी और तब वे बड़े चिन्तित होते हैं । जब वे चिन्तामग्र चेहरे के साथ शाम को दफ्तर से लौटते हैं, तो पत्नी उन्हें देखकर सोचती है – 'अब न जाने किसकी शामत आनेवाली है!' वह थोड़ी देर रेडियो चलाकर संगीत सुनता है । फिर उसे बन्द करके कुछ दिन पूर्व ग्रन्थालय से लायी गयी पुस्तक पढ़ने लगता है, जिसे शीघ्र ही लौटाना है । वह लापरवाही से कुछ पृष्ठों को पलटकर अधीरतापूर्वक उसे रख देता है, कहता है, 'ओह, क्या बकवास है! मैं तो थक गया ।' खेलने के लिये बाहर जा रहे लड़के से वह कहता है, "उस चीज को वहाँ रख दे ।" यदि उसने पूछा, "किस चीज को? कहाँ?", तो वह सिर पीट लेता है और कहता है, "ओह! इस निकम्मे को कैसे समझाऊँ?" इसके बाद वह बताता है कि किस चीज को कहाँ रखना है । वह ऐसा जताता है मानो उसे एक ही समय में कई काम करने पड़ते हों ।

पर सच्चाई तो यह है कि उसका सारा जीवन ही अव्यवस्थित है । उसकी कमाई अच्छी है, उसे धन की कमी नहीं है, वह मितव्ययी भी है, तथापि वह सर्वदा संकटों से घिरा रहता है । वह अपने जीवन को व्यवस्थित करना नहीं जानता । कुछ वर्ष पूर्व एक कन्नड़ मासिक में एक लेखक ने अपने कलकत्ता के अनुभव का वर्णन किया था, जिसमें अधीरता तथा हड़बड़ी से पीड़ित एक उलझे मन की हालत का वर्णन किया गया था –

एक विधायक डाकघर गया और वहाँ से किसी कम्पनी के महाप्रबन्धक से टेलीफोन पर बात करनी चाही । वहाँ खिड़की पर उसे बताया गया, "अभी तो केवल नौ बजे हैं, वे साढ़े दस बजे ही कार्यालय में आते होंगे । अत: उन्हें बाद में फोन करना उचित होगा ।" विधायक ने उसकी बात सुनकर भी ऐसा दिखाया मानो उसने सुना ही न हो । उसने फोन का नम्बर लगाकर पूछा, "कौन?" उत्तर मिला, "दरबान ।" विधायक ने फोन पटक दिया । आधे घण्टे बाद उसने दुबारा फोन किया । और वही उत्तर मिलने पर उसने 'दुर' कहकर फोन रख दिया । साढ़े दस बजे उसने फिर फोन लगाकर पूछा, "क्या दरबान बोल रहे हो?" इस बार फोन महाप्रबन्धक ने उठाया था, उसने विधायक का प्रश्न सुनकर उसे रख दिया । विधायक निराश होकर चुपचाप डाकघर से लौट गया ।

उसकी जल्दबाजी, चिन्ता, उलझन तथा उद्विग्नता ने उसकी बुद्धि को घास चरने भेज दिया था, जिसके कारण उसके डेढ़ घण्टे बरबाद हुए ।

चर्चा, यात्रा, खेल, मनोरंजन आदि जीवन के अनेक क्षेत्रों में जल्दबाजी के कारण काफी नुकसान होता है ।

इस जल्दबाजी, उलझन तथा चिन्ता के क्या कारण हैं?

(१) कोई कार्य आरम्भ करने के पूर्व शान्तिपूर्वक विचार न करना । एक साथ ही अनेक कार्य करने की प्रवृत्ति ।

(२) जिस कार्य को वर्षों का अविराम परिश्रम चाहिये, उसे थोड़े से दिनों में कर डालने का अति उत्साह ।

(३) आवश्यक कार्य को अन्तिम समय तक टालने की प्रवृत्ति, फिर अन्तिम घड़ी में सभी कुछ करने की चेष्टा करना ।

(४) इस दुर्बलता को स्वभाव या आदत कहकर उसे हटाने में असफल होना, जिससे वह बनी रह जाती है ।

जल्दी, हड़बड़ी, चिन्ता तथा उलझन मन को अशान्त और शरीर को क्लान्त करते हैं । उनसे रक्तचाप बढ़ता है, स्नायुमण्डल शिथिल होता है । हम इनसे कैसे बचें?

अविराम धीमी गतिवाला तेज दौड़ता है

तीव्र गति से चलने के लिये तुम्हें धीरे धीरे, पर धीर-स्थिर भाव से चलना होगा । शायद तुम्हें यह बात विरोधाभासी लगे, पर इस पर विचार करो; तुमने अंग्रेजी का यह मुहावरा अवश्य सुना होगा – hasten slowly अर्थात् धीरे से जल्दी करो ।

एक अखबार के प्रकाशक ने एक नया टाइपिस्ट नियुक्त किया । वह बिना भूल किये बड़ी तेज गति से टाइप करता था । मैनेजर उस पर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला, "अपनी तीव्र गति की टाइप करने का रहस्य सबको बताओ ।" उसने कहा, "तेजी से टाइप करने के लिये धीरे धीरे टाइप करना चाहिए ।" यह सुनकर सबको आश्चर्य हुआ । उसके कहने का तात्पर्य यह था कि टाइपिंग का कार्य शीघ्र पूरा करने के लिये शुरू से ही जल्दबाजी में नहीं, बल्कि धीरे धीरे टाइप करो ।

तत्काल तेज गति की इच्छा न हो। यदि हम अपनी आज की गति आधी कर दें, तो हमारे टाइपिंग में कोई भूल नहीं होगी और कार्य करते हुए हम शान्त रहेंगे। इस प्रकार एक सप्ताह टाइप करने से बिना चिन्ता के ही हमारी गति बढ़ जायेगी।

ऐसी बात नही कि जल्दबाजी और चिन्ता से कार्य की गति में तेजी आ जाती हो। यदि हम इतना समझ लें तो सारा काम हम रुचि, एकाग्रता तथा आनन्द के साथ कर सकेंगे।

एक बार हमारे स्कूल में एक बाजीगर आया। वह एक साथ ६ गेंदें उछालकर अपनी कला दिखाता था। जो भी नीचे आती, उसे वह वापस हवा में उछाल देता। उसके हाथों में ऐसा कौशल था मानो उन्हें छूते ही गेंद बिजली के झटके से उछल पड़ती हो। सबको बड़ा आश्चर्य तथा आनन्द हुआ। उसके जाने के बाद कुछ लोगों ने नीबू, मौसमी, सन्तरे – जो भी मिला, उसी से अभ्यास शुरू कर दिया। उन लोगों की आँखों, नाकों तथा चेहरो पर चोटे आयीं। दो दिन के व्यर्थ प्रयास के बाद सबने हथियार डाल दिये। १५ दिनों बाद एक कार्यक्रम में एक छात्र ने ४ गेंदें एक साथ उछालकर सबको विस्मय में डाल दिया। सबने उसकी खूब प्रशंसा की। कार्यक्रम के बाद लोगों ने उससे पूछा कि यह कला उसने कैसे सीखी! वे लोग भी सीखने के इच्छुक थे। उसने स्पष्ट न बताते हुए कहा – मैं जादू जानता हूँ। एकान्त में पूछने पर उसने मुझे बताया, "पहले मैंने प्रतिदिन एकान्त में एक गेंद उछालने और उसे पकड़ने का अभ्यास किया। १०० बार ऐसा करने के बाद मैंने सोचा कि एक ही हाथ से दो गेंदें उछाल कर देखूँ। क्रमशः मेरा आत्मविश्वास बढ़ा। १० दिनों में मैं तीव्र गति से ४ गेदें उछालने लगा। वे एक बार भी हाथ से नहीं छूटीं।"

वह समझ गया था कि धीमे परन्तु सतत अभ्यास से ही तीव्र गति की उपलब्धि होती है।

हमारे अचेतन मन में सारे अनुभव संचित होते हैं। यही अचेतन मन हमारी आदतें बनाता तथा उनको संयमित करता है। जैसा हम चाहें यह वैसा ही करता है। हम चाहें तो इसका अपने लक्ष्य की प्राप्ति में उपयोग कर सकते हैं अथवा उसके मार्ग में अवरोध खड़ा करने में। यदि हम इसे अधीरता, क्रोध तथा उलझन से भरें, तो यह उन्हीं को अपना लेता है और यदि हम इसे व्यवस्था, संयम, स्थिरता तथा एकाग्रता सिखायें, तो यह उन्हीं को ग्रहण करके उन्हें और प्रबल बनाता है।

तुमने देखा होगा कि संगीतज्ञ लोग अपनी दक्ष उंगलियों से हार्मोनियम या वायलिन पर कितने सारे स्वर निकाल लेते हैं। गायक की तानों के साथ वे तत्काल वही सुर बजा लेते हैं। वे गायक के संकेत के अनुसार ताल व राग को ध्यान में रखकर आनन्दपूर्वक सहज भाव से वाद्य पर संगत करते हुए श्रोताओं में हर्ष का संचार करते हैं। लगातार घण्टों बजाने के बाद भी उनके उत्साह तथा प्रेरणा में कमी नहीं आती।

बजाते समय ये वादक क्या कभी अपने हाथों पर ध्यान देते हैं? नहीं। ऐसा करने पर वे अपनी स्वाभाविक उत्कृष्टता के साथ नहीं बजा सकेंगे। यद्यपि उनका बाह्य मन कही और रहता है, परन्तु उनका आन्तरिक मन संगीत के अनुकूल उनके हाथों का नियंत्रण करता है। इसका रहस्य क्या है?

किसी भी कला में प्रवीण होने के लिये उसकी क्रिया हमारे अन्तर में पूर्ण रूप से समा जानी चाहिए। जब हम कला को प्रस्तुत करें, तब सारी क्रियाओं पर सचेत ध्यान दिये बिना ही उसके आनन्द की अनुभूति होनी चाहिये। यदि हम अधीरता या जल्दबाजी को छोड़कर कोई कला या विषय, धैर्यपूर्वक धीरे धीरे सीखें, तो हम उसमें पूर्णतया निपुण हो जायेंगे और अवसर मिलने पर निर्भयतापूर्वक उसका प्रदर्शन कर सकेंगे।

यदि तुम किसी अनुभव की पुनरावृत्ति करना चाहो, तो तुम्हारा अचेतन मन इसमें सहायता करता है, जैसा कि वर्षों से छोड़े हुए साइकिल चलाने या तैरने के अभ्यास के साथ होता है। इस अन्तराल के बाद भी तुम न केवल बेहिचक सहजता के साथ, अपितु साहसपूर्वक साइकिल चला सकते हो। तैराकी के विषय में भी यही बात है।

छोटे-मोटे कार्य को भी बड़ी लगन के साथ करो – इस सिद्धान्त से छात्रों को असीम प्रेरणा मिल सकती है। उससे न केवल उनकी शिक्षा को, अपितु उनके पूरे जीवन को भी एक नयी दिशा मिल सकती है। नेल्सन रोसनर ने कहा है, "यदि हम कोई एक कार्य भी लापरवाही से करें, तो लापरवाही हमारी आदत बन जायेगी और वही हमारे सभी कार्यों के माध्यम से अभिव्यक्त होगी।"

❖ (क्रमशः) ❖

केनोपनिषद् (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

भाष्य – 'अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि' इति अनेन वाक्येन आत्मा ब्रह्म इति प्रतिपादिते श्रोतु: आशङ्का जाता – तत् कथं तु आत्मा ब्रह्म। आत्मा हि नामाधिकृत: कर्मणि उपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनम् अनुष्ठाय ब्रह्मादि-देवान् स्वर्गं वा प्राप्तुम् इच्छति। तत् तस्माद् अन्य उपास्यो विष्णु: ईश्वर इन्द्र: प्राणो वा ब्रह्म भवितुम् अर्हति, न तु आत्मा; लोक-प्रत्यय-विरोधात्। यथा अन्ये तार्किका ईश्वराद् अन्य आत्मा इति आचक्षते, तथा कर्मिण: अमुं यजामुं यज इति अन्या एव देवता उपासते। तस्माद् युक्तं यद् विदितम् उपास्यं तद् ब्रह्म भवेत्, ततो अन्य उपासक इति। ताम् एताम् आशङ्कां शिष्य-लिङ्गेन उपलक्ष्य तद् वाक्याद् वा आह – मा एवं शंङ्किष्ठा: –

'यह (ब्रह्म) जाने हुए (वस्तुओं) से पृथक् है और फिर अज्ञात (वस्तुओं) से भी परे है' – इस वाक्य के द्वारा 'आत्मा ही ब्रह्म है' – ऐसा बताये जाने पर श्रोता (शिष्य) के मन में शंका उत्पन्न हुई – 'आत्मा भला ब्रह्म कैसे हो सकता है, क्योंकि आत्मा सामान्यत: उस संसारी जीव को कहते हैं, जो कर्मकाण्ड अथवा उपासना के अनुष्ठान द्वारा ब्रह्मा आदि देवताओं अथवा स्वर्ग की उपलब्धि करने का इच्छुक है। अत: उस (उपासक) से भिन्न विष्णु, शिव, इन्द्र या प्राण (हिरण्यगर्भ) रूप जो उपास्य है, उसका तो ब्रह्म होना उचित है, परन्तु आत्मा का नहीं, क्योंकि इससे लोक-विश्वास का विरोध होता है। जिस प्रकार अन्य न्यायशास्त्री आत्मा को ईश्वर से पृथक् बताते हैं, उसी प्रकार कर्मकाण्डी (मीमांसक) लोग 'अमुक का यज्ञ करो', 'अमुक का यज्ञ करो' – कहकर भिन्न देवताओं की उपासना करते हैं। अत: उचित तो यही होगा कि जो विदित तथा उपास्य है, वही ब्रह्म हो और उपासक उससे भिन्न हो।'' शिष्य में ऐसी शंका के चिह्न देखकर या उसकी वाणी से समझकर आचार्य कहते हैं – ऐसी शंका मत करो –

ब्रह्म वाक् आदि से अतीत और अनुपास्य है –

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।५।।

अन्वयार्थ – **यत्** जो (चैतन्यमय सत्ता) **वाचा** वाणी के द्वारा **अनभ्युदितम्** उच्चरित नहीं हुई है, (परन्तु) **येन** जिसके द्वारा **वाक्** वाणी **अभ्युद्यते** प्रवृत्त होती है। **त्वं** तुम **तत्** उसको **एव** ही **ब्रह्म** ब्रह्म **विद्धि** जानो; **इदम्** इसको **न** नहीं, **यत्** जिस **इदम्** इसकी (लोग अपने से पृथक् रूप में) **उपासते** उपासना करते हैं ।।

भावार्थ – जो (चैतन्य) वस्तु वाणी या शब्द के द्वारा कही नहीं गयी है, पर जिसके द्वारा वाणी व्यक्त होती है; उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं।

भाष्य – <u>यत्</u> चैतन्यमात्र-सत्ताकम्, <u>वाचा</u> वागिति जिह्वामूल-आदिषु अष्टसु स्थानेषु विषक्तम् आग्नेयं वर्णानाम् अभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णा: च अर्थसङ्केत-परिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इति ; एवं तद् अभिव्यङ्ग्य: शब्द: पदं वाक् इति उच्यते ; 'अकारो वै सर्वा वाक् सा एषा स्पर्श-अन्त:स्थ-ऊष्मभि: व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (ऐ. आ. २/३/७/१३) इति श्रुते:। मितम्-अमितं स्वर: सत्यानृते एष विकारो यस्या: तया वाचा पदत्वेन परच्छिन्नया करणगुणवत्या – <u>अनभ्युदितम्</u> अप्रकाशितम् अनभ्युक्तम्।

चैतन्यमात्र सत्तावाला वह (ब्रह्म) जो वाक् (वाणी) के द्वारा (व्यक्त नहीं होता)। वाक् – उस इन्द्रिय को कहते हैं, जो जिह्वामूल आदि (हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, नासिका तथा ओष्ठ) आठ स्थानों में अधिष्ठित है, अग्नि देवता से सम्बन्धित और वर्ण (अक्षरों) को अभिव्यक्त करनेवाला है। ये वर्ण या अक्षर भी अभीष्ट अर्थ के अनुसार (संख्या में) सीमित होकर तथा (विशिष्ट) क्रम से प्रयुक्त होकर; और उसे अभिव्यक्त करनेवाले शब्द, पद या वाक्य कहलाते हैं। श्रुति में भी कहा है – 'अ वर्ण ही सम्पूर्ण वाक् (वाणी) है। और वह वाक् स्पर्श (क से म तक के २५ वर्ण), अन्त:स्थ (य, व, र, ल) तथा ऊष्म (श, ष, स, ह) अक्षरों के रूप में अभिव्यक्त होकर अनेक तथा विविध रूपोंवाला हो जाता है।' मित (पद्यात्मक, यथा ऋग्वेद), अमित (गद्यात्मक, यथा यजुर्वेद), स्वर (गेय, यथा सामवेद), सत्य और मिथ्या – ये विकार (विभिन्न रूप) है, जिस वाणी के, पद या शब्द द्वारा सीमित तथा करण

(इन्द्रिय) गुणवाली वाक् के द्वारा वह (ब्रह्म) अनभ्युदितम् अर्थात् प्रकाशित या कथित नहीं हुआ है ।

येन ब्रह्मणा विवक्षिते अर्थे सकरणा वाक् अभ्युद्यते चैतन्य-ज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यते इति एतत् । यद् 'वाचो ह वाक्' इति उक्तम् वदन् वाक् । 'यो वाचम् अन्तरो यमयति' (बृ. उ. ३/७/१७) इत्यादि च वाजसनेयके । 'या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित् तां वेद ब्राह्मणः' - इति प्रश्नम् उत्पाद्य प्रतिवचनम् उक्तम् - 'सा वाक् यया स्वप्ने भाषते' इति । सा हि वक्तुः वक्तिः नित्या वाक् चैतन्य-ज्योतिःस्वरूपा 'न हि वक्तुः वक्तेः विपरिलोपो विद्यते' (बृ. उ. ४/३/२६) इति श्रुतेः ।

जिस ब्रह्म के द्वारा इच्छित अर्थ को उच्चरित करने के लिए (वाक्) इन्द्रिय सहित वाणी प्रवृत्त (सक्रिय) होती है अर्थात् जिस चैतन्य-ज्योति के द्वारा प्रकाशित या प्रयुक्त होती है, उसी को यहाँ 'वाणी-का-वाणी' (केन. १/२) कहा गया है । उसी को बृहदारण्यक में कहा गया है – 'बोलता हुआ वह वाक् कहलाता है', 'जो अन्तर में रहकर वाणी को नियंत्रित करता है' इत्यादि । (अन्य श्रुति में भी) यह प्रश्न उठाकर 'जो वाणी मनुष्यों मे होती है, वह ध्वनियों में प्रतिष्ठित होती है । क्या कोई ब्रह्मवेत्ता उसे जानता है?' उत्तर में कहा गया है – 'वाणी वह है, जिसके द्वारा स्वप्न में बोला जाता है' । वही (नित्य) चैतन्य-ज्योति स्वरूप वाक् (ब्रह्म) ही वक्ता के बोलने की शक्ति है । श्रुति में भी है – 'वक्ता के बोलने की शक्ति का कभी लोप नही होता ।'

तदेव आत्म-स्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्म इति विद्धि विजानीहि त्वम् । यैः वागादि-उपाधिभिः वाचो ह वाक् चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म इति एवम् आदयः संव्यवहारा असंव्यवहारे निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते, तान् व्युदस्य आत्मानम् एव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि इति एव शब्दार्थः । न इदं ब्रह्म यदिदम् इति उपाधि-भेद-विशिष्टम् अनात्मा-ईश्वर-आदि उपासते ध्यायन्ति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति उक्ते अपि न इदं ब्रह्म इति अनात्मनो अब्रह्मत्वं पुनः उच्यते नियमार्थम् अन्य-ब्रह्म-बुद्धि-परिसङ्ख्यानार्थं वा ।।५।।

उसी आत्मस्वरूप को तुम ब्रह्म जानो । सर्वोच्च, व्यापक (सबसे बड़ा) और बृहत् अर्थात् अनन्त होने के कारण उसे ब्रह्म कहते हैं । जिन वाक् (वाणी) आदि उपाधियों के कारण शब्दातीत, निर्गुण, परम तथा साम्य रूप ब्रह्म के लिए वाणी-का-वाणी, चक्षु-का-चक्षु, श्रोत्र-का-श्रोत्र, मन-का-मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, प्रशासक, 'विज्ञान, आनन्द, ब्रह्म' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है; उन्हें छोड़कर अपनी आत्मा को ही निर्गुण ब्रह्म समझो । यहाँ 'एव' (ही) शब्द का यही तात्पर्य है । जिन विभिन्न उपाधियों से युक्त अनात्मा स्वरूप ईश्वर आदि की लोग उपासना अर्थात् ध्यान करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है । 'उसी को तुम ब्रह्म जानो' – ऐसा बताने के बाद भी उसी को दृढ़ीभूत (और भी पक्का) करने हेतु अथवा अन्य वस्तुओं पर से ब्रह्मबुद्धि का निराकरण करने के लिए पुनः 'वह ब्रह्म नही है' – कहकर अनात्मा का अब्रह्मत्व प्रतिपादित किया गया है ।।५।।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।६।।

अन्वयार्थ – **मनसा** अन्तःकरण के द्वारा **यत्** जिसका (कोई) **न मनुते** चिन्तन नहीं कर सकता, (परन्तु) **येन** जिसके द्वारा **मनः** अन्तःकरण **मतम्** चिन्तन करता है – **आहुः** ऐसा कहते हैं । **त्वं** तुम **तत्** उसको **एव** ही **ब्रह्म** ब्रह्म **विद्धि** जानो; **इदम्** इसको **न** नहीं, **यत्** जिस **इदम्** इसकी (लोग अपने से पृथक् रूप में) **उपासते** उपासना करते हैं ।।

भावार्थ – जिस (चैतन्यमय) वस्तु की मन के द्वारा कल्पना नहीं की जा सकती, (परन्तु) कहते हैं कि जिसके द्वारा मन कल्पना करता है, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं ।

भाष्य - यन्मनसा न मनुते ; मन इति अन्तःकरणं बुद्धि-मनसोः एकत्वेन गृह्यते । मनुते अनेन इति मनः सर्व-करण-साधारणम्, सर्वविषय-व्यापकत्वात् । 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्रीः धीः भीः इति एतत् सर्वं मन एव' (बृ. उ. १/५/३) इति श्रुतेः कामादि-वृत्तिमत्-मनः । तेन मनसा यत् चैतन्य-ज्योतिः मनसः अवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति (लोकः), मनसो अवभासकत्वेन नियन्तृत्वात् । सर्वविषयं प्रति प्रत्यक् एव इति स्वात्मनि न प्रवर्तते अन्तःकरणम् । अन्तःस्थेन हि चैतन्य-ज्योतिषा अवभासितस्य मनसो मनन-सामर्थ्यम् ; तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः । तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक् चेतयितारं ब्रह्म विद्धि । नेदम् इत्यादि पूर्ववत् ।।६।।

जिसकी मन से द्वारा कल्पना नहीं कर सकते – यहाँ बुद्धि तथा मन को एक साथ लेकर अन्तःकरण को मन कहा गया है । इसके द्वारा मनन करते हैं, अतः यह मन है (और) सभी विषयो में व्याप्त होने के कारण सभी इन्द्रियों में सामान्य (व्याप्त) है । श्रुति में भी कहा गया है – 'कामना, सङ्कल्प, शंका, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधीरता, लज्जा, बुद्धि और भय – यह सब कुछ मन ही है ।' (इस प्रकार) मन कामना आदि

वृत्तियों से युक्त है और उस मन का जो प्रकाशक (उसे जीवन्त बनानेवाला) चैतन्य-ज्योति है, उसका इस मन के द्वारा कल्पना और निश्चय भी नहीं किया जा सकता, (क्योंकि) वह मन का प्रकाशक होने के कारण उसका स्वामी है। (चूँकि यह चैतन्य ही) समस्त विषयों का (मन का भी) मूलभूत तत्त्व है, (अत: मन-बुद्धि रूप) अन्त:करण अपनी आत्मा में प्रवृत्त (सक्रिय) नहीं होता। (क्योंकि) अपने भीतर स्थित चैतन्य-ज्योति द्वारा प्रकाशित मन में ही मनन (संकल्प) की क्षमता होती है। (इसीलिए) ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि (कामना आदि) वृत्तियों सहित मन जिस ब्रह्म के द्वारा विषयीकृत (व्याप्त) होता है, उसी को तुम मन की आत्मा तथा भीतर से चेतना प्रदान करनेवाला ब्रह्म समझो। 'न इदम्' (उपाधियों से युक्त जिस अनात्मा-स्वरूप ईश्वर आदि की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है) आदि की व्याख्या पहले के समान होगी ॥६॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

अन्वयार्थ – **चक्षुषा** नेत्र के द्वारा **यत्** जिसे (कोई) **न पश्यति** नहीं देखता, (परन्तु) **येन** जिसके द्वारा **चक्षूंषि** नेत्रों की वृत्तियों को (लोग) **पश्यति** देखते हैं। **त्वं** तुम **तत्** उसको **एव** ही **ब्रह्म** ब्रह्म **विद्धि** जानो; **इदम्** इसको **न** नहीं, **यत्** जिस **इदम्** इसकी (लोग अपने से पृथक् रूप में) **उपासते** उपासना करते हैं ॥

भावार्थ – जो नेत्रों के द्वारा देखने में नहीं आता, (परन्तु) जिसके द्वारा नेत्र की वृत्तियाँ (लोगों के) देखने में आती हैं, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसकी जिसकी लोग उपासना करते हैं।

यत् चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोति अन्त:करण-वृत्ति-संयुक्तेन येन चक्षूंषि अन्त:करण-वृत्ति-भेदभिन्नाः चक्षुः वृत्तीः पश्यति लोकः चैतन्य-आत्म-ज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति। तदेव इत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

अन्त:करण की वृत्तियों से युक्त नेत्रों के द्वारा जिसका विषयीकरण या देखना नहीं हो सकता। (और) जिस चैतन्य-ज्योति के द्वारा (मनुष्य) अन्त:करण की वृत्तियों में विभिन्नता के अनुसार नेत्र-वृत्तियों को देखता है, विषय बनाता है या व्याप्त करता है, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं ॥७॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

अन्वयार्थ – **यत्** जिसे **श्रोत्रेण** कान के द्वारा (कोई) **न शृणोति** नहीं सुनता; (परन्तु) **येन** जिसके द्वारा **इदम्** यह **श्रोत्रम्** श्रवणेन्द्रिय **श्रुतम्** सुनने में समर्थ होती है, **त्वं** तुम **तत्** उसको **एव** ही **ब्रह्म** ब्रह्म **विद्धि** जानो; **इदम्** इसको **न** नहीं, **यत्** जिस **इदम्** इसकी (लोग अपने से भिन्न रूप में) **उपासते** उपासना करते हैं ॥

भावार्थ – जो कान के द्वारा सुनने में नहीं आता, (परन्तु) जिसके कारण श्रोत्र द्वारा सुना जाता है, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं।

यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवता-अधिष्ठितेन आकाश-कार्येण मनोवृत्ति-संयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रम् इदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्य-आत्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव इत्यादि पूर्ववत् ॥८॥

दिग्देवता से संरक्षित (अधिष्ठान-रूप), आकाश के कार्य रूप तथा मनोवृत्तियों से जुड़े हुए श्रोत्र के द्वारा लोग जिसका श्रवण या विषयीकरण (प्रकाशन) नहीं कर सकते। जिस चैतन्य-ज्योति के द्वारा यह लोकप्रसिद्ध श्रवणेन्द्रिय सुनी जाती, विषयीकृत या प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं ॥८॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥९॥

अन्वयार्थ – **प्राणेन** घ्राणेन्द्रिय द्वारा **यत्** जिसको (कोई) **न प्राणिति** सूँघ नहीं सकता, (परन्तु) **येन** जिसके द्वारा **प्राणः** घ्राणेन्द्रिय **प्रणीयते** (अपने विषय को) सूँघती है, **त्वं** तुम **तत्** उसको **एव** ही **ब्रह्म** ब्रह्म **विद्धि** जानो; **इदम्** इसको **न** नहीं, **यत्** जिसको **इदम्** इसकी (लोग अपने से पृथक् रूप में) **उपासते** उपासना करते हैं ॥

भावार्थ – जिसे घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सूँघा नहीं जा सकता, (परन्तु) जिसके द्वारा घ्राणेन्द्रिय सूँघती है, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं।

भाष्य – यत् प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिका-पुट-अन्तरवस्थितेन अन्त:करण-प्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यत् न प्राणिति गन्धवत् न विषयीकरोति, येन चैतन्य-आत्म-ज्योतिषा अवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते तदेव इत्यादि सर्वं समानम् ॥९॥

पृथिवी का कार्यरूप, नासिका-रन्ध्रों में बसनेवाला, अन्त:करण (मन) तथा प्राण की वृत्तियों से जुड़ी हुई घ्राणेन्द्रिय जिसका गन्ध के रूप में विषयीकरण अर्थात् सूँघ नहीं सकती। (परन्तु) जिस चैतन्य-ज्योति के द्वारा आलोकित होकर घ्राणेन्द्रिय अपने विषय की ओर प्रवृत्त होती अर्थात् सूँघती है, उसी को तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं ॥९॥

❖ (क्रमश:) ❖

मन के जीते जीत

स्वामी सत्यरूपानन्द

समाज में कई बार हमें यह देखने को मिलता है कि अभावग्रस्त तथा साधनहीन व्यक्ति महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्यों को करने में समर्थ और सफल होकर समाज का हित साधन करते हैं एव स्वय के जीवन को भी कृतार्थ करते हैं।

दूसरी ओर अनेक धन और साधन सम्पन्न व्यक्ति जीवन में कोई विशेष उपलब्धि नहीं कर पाते और न ही उनके द्वारा समाज का ही कुछ विशेष हित हो पाता है। उनका जीवन अत्यन्त साधारण और सामान्य ही रह जाता है। उनके जीवन को सार्थक और सफल भी नहीं कहा जा सकता है।

क्या कारण है इस प्रकार के अन्तर का? यदि हम ऐसे व्यक्तियों के चरित्र का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि उनके जीवन की सफलता और असफलता का कारण है मनोबल। एक व्यक्ति में मनोबल अधिक है तो दूसरे में कम। एक व्यक्ति दृढ़ सकल्प है तो दूसरा दुर्बल सकल्प।

मानव जीवन की सफलता और असफलता इसी मनोवल पर निर्भर करती है। जिसका मनोबल जितना प्रबल होगा, जिसका सकल्प जितना दृढ़ होगा वह व्यक्ति जीवन में उतना ही सफल और कृतकृत्य होगा।

मानव जीवन की सफलता या असफलता का रहस्य ही मनोबल का कम या अधिक होना है। ससार में ऐसा कोई भी स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति नहीं है जिसमें कुछ न कुछ मात्रा में मनोवल न हो। सभी सामान्य बालक का जन्म कुछ मात्रा में मनोबल के साथ ही होता है। उस मनोबल को बढ़ाना, घटाना या व्यर्थ ही नष्ट कर देना व्यक्ति के अपने हाथ में होता है।

प्रत्येक व्यक्ति यदि नियमानुसार यथोचित प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से अपने मनोवल को इतना बढ़ा सकता है कि अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार वह अपनी रुचि के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है तथा अपने जीवन को सफल और सार्थक बना सकता है।

यदि हम प्रवल मनोबल युक्त व्यक्तियों के जीवन तथा कार्यों पर दृष्टि डालें तो हमें उनके जीवन की कुछ विशेषतायें, उनके व्यक्तित्व के कुछ विशेष गुण स्पष्ट दीख पड़ेंगे।

प्रथम तो हमें दीख पड़ेगा कि उन्होंने अपने जीवन का एक कार्यक्षेत्र निर्धारित कर लिया है। ऐसा कार्यक्षेत्र जिसमें उन्हें रुचि है तथा उस ओर उनका स्वाभाविक झुकाव है।

यहाँ स्मरण रखना होगा कि उनकी रुचि का कार्यक्षेत्र उनकी जीविका का साधन नहीं भी हो सकता। जीविका के लिये वह व्यक्ति और ही कुछ कार्य करता हो। हो सकता है उस कार्य में उसकी उतनी रुचि न भी हो।

वैसे भी जीविका जीवन की सफलता का मापदण्ड नहीं है। जीवन में तृप्ति और सफलता तो उसी कार्य में मिल सकती है जिसमें हमारी स्वाभाविक रुचि हो।

दूसरी बात प्रबल मनोबल युक्त व्यक्ति के जीवन में हम ये तीन गुण अवश्य पायेंगे – १) धैर्य, २) अध्यवसाय और ३) अभ्यास। इन तीनों गुणों के अभ्यास से कोई भी व्यक्ति अपना मनोबल बढ़ाकर अपने मनोवांछित क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। अध्यवसाय और अभ्यास का आधार है धैर्य। ऐसा कह सकते हैं कि धैर्य वह नींव है जिस पर अध्यवसाय और अभ्यास का भवन खड़ा होता है। अतः सर्वप्रथम जीवन में धैर्य के गुण का अर्जन करना चाहिए।

जीवन में बहुत सी बातों के लिये हमें विवश होकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि हम इस विवशता को शान्तिपूर्वक एव स्वेच्छा से स्वीकार कर लें तो वही धैर्य का सद्गुण बन जाता है तथा हमारे जीवन में स्थिरता एव दृढ़ता लाता है। धैर्य के पश्चात मनोबल बढ़ाने के लिये दूसरा आवश्यक गुण है अभ्यास। आज अपने जीवन में हम जिन भी कार्यों में दक्ष एवं निपुण हैं वे सभी निरन्तर अभ्यास के ही परिणाम हैं। जाने अनजाने हमने उस कार्य का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास अवश्य किया है।

अभ्यास के सम्बन्ध में एक विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। भ्रष्ट और अनुचित अभ्यास हमें बुरी आदतें और कार्यों में फँसा सकता है। अतः जीवन को उन्नत और विकसित करनेवाले गुणों का ही अभ्यास करना चाहिये।

अभ्यास की सफलता का रहस्य है अध्यवसाय। हाथ में लिये हुए किसी भी कार्य को उसकी पूर्णता या समाप्ति तक निरन्तर करते रहना। किसी कठिनाई या बाधा विघ्न के आगे न झुकना। कठिनाइयों में और भी अधिक परिश्रम कर उस कार्य को पूर्ण करना।

अध्यवसाय एक अति उपयोगी मानसिक व्यायाम है। इससे मनोबल बहुत अधिक बढ़ता है। अध्यवसायी व्यक्ति ही

(शेष पृष्ठ १८९ पर)

ईसप की नीति-कथाएँ (४)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व जन्मे ईसप के जीवन के विषय मे ज्यादा जानकारी नही मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करने वाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग मे भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओ मे व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

गृहस्थ और उसके पुत्र

एक गृहस्थ के कुछ पुत्र थे । उन पुत्रों में आपसी सद्‌भाव न था । वे लोग हमेशा परस्पर विवाद करते रहते थे । गृहस्थ सर्वदा उन लोगों को समझाते, परन्तु वे लोग भला उनकी बात कहाँ सुननेवाले थे! तब उन्होंने निश्चय किया कि केवल बातों से नहीं, बल्कि उदाहरण के द्वारा समझाने से शायद इन लोगों का विवाद मिट जाय । बाद में एक दिन उन्होंने पुत्रों को अपने पास बुलाया और बाँस की कुछ टहनियाँ मँगाकर उन्हें एक गट्ठे के रूप में बाँधने को कहा । उन लोगों ने तत्काल वैसा ही किया । अब उन्होंने सबसे बड़े पुत्र से कहा, "बेटा, इस गट्ठे को तोड़ डालो ।" उसने दोनों हाथों से उसके दोनों किनारे पकड़े और बीच में पाँव लगाकर उसे तोड़ने का बहुत प्रयास किया, परन्तु किसी भी प्रकार उसे तोड़ नहीं सका ।

इस प्रकार एक-एककर उन्होंने अपने सभी पुत्रों को टहनियों के उस गट्ठे को तोड़ने को कहा । सभी ने प्रयास किया, परन्तु कोई भी उसे तोड़ नहीं सका । तब उन्होंने गट्ठे को खोलकर बड़े पुत्र के हाथ में बाँस की एक टहनी देकर उसे तोड़ डालने को कहा । उसने तत्काल उसे तोड़ डाला । तब गृहस्थ ने पुत्रों से कहा, "देखो बच्चो, इसी प्रकार जितने दिन तुम लोग आपसी सद्‌भावपूर्वक एक साथ रहोगे, उतने दिन शत्रुगण तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं कर सकेंगे । परन्तु परस्पर विवाद करके अलग होते ही तुम्हारा विनाश हो जायेगा ।"

संगठन में ही बल है । घास के छोटे छोटे टुकड़ों से बने हुए रस्से के द्वारा मतवाला हाथी भी बाँधा जा सकता है ।

कछुआ और गरुड़

एक कछुआ यह सोचकर बड़ा दु:खी था कि पक्षीगण बड़ी आसानी से आकाश में उड़ा करते हैं, परन्तु वह नहीं उड़ पाता । वह मन-ही-मन सोच-विचारकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि कोई मुझे एक बार भी आकाश में पहुँचा दे, तो फिर वह भी पक्षियों के समान ही उड़ते हुए विचरण किया करेगा । उसने एक गरुड़ पक्षी के पास जाकर कहा, "भाई, यदि तुम दया करके मुझे एक बार आकाश में पहुँचा दो, तो मैं समुद्र-तल में स्थित सारे रत्न निकालकर तुम्हें दे दूँगा । मुझे आकाश में उड़ते हुए विचरण करने की बड़ी इच्छा हो रही है ।"

कछुए की आकांक्षा तथा प्रार्थना सुनकर गरुड़ बोला, "सुनो भाई, तुम जो कुछ चाहते हो उसका पूरा होना असम्भव है । थलचर जन्तु कभी नभचर नहीं हो सकता । तुम अपनी यह आकांक्षा त्याग दो । यदि मैं तुम्हें आकाश में पहुँचा भी दूँ, तो तुम तत्काल गिर जाओगे और हो सकता है इससे तुम्हारी मृत्यु भी हो जाय ।"

परन्तु कछुआ इससे निरस्त नहीं हुआ, उसने कहा, "बस, तुम मुझे ऊपर पहुँचा दो, मैं उड़ सकता हूँ और उड़ूँगा, यदि नहीं उड़ सका तो गिरकर मर जाऊँगा । इसके लिये तुम्हें चिन्ता करने की जरूरत नहीं है ।" इस प्रकार कछुआ उससे बारम्बार अनुरोध करने लगा ।

तब गरुड़ ने थोड़ा-सा हँसकर कछुए को उठा लिया और उसे काफी ऊँचाई पर पहुँचा दिया । उसने कहा, "अब तुम उड़ना आरम्भ करो ।" और उसने कछुए को छोड़ दिया । उसके छोड़ते ही कछुआ एक पहाड़ी पर जा गिरा और गिरते ही उसका पूरा शरीर चकनाचूर हो गया ।

मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुरूप ही आकांक्षा रखनी चाहिये, अन्यथा बहुत दु:ख उठाना पड़ सकता है । कहा भी है – *उतनी पाँव पसारिये, जितनी लम्बी ठौर* ।

घोड़ा और घुड़सवार

एक घोड़ा अकेले ही मैदान में चरते हुए घूमा करता था । कुछ दिनों बाद एक हिरण ने भी उसी मैदान में आकर चरना आरम्भ किया और यथेच्छा खाने के बाद बचा हुआ घास बरबाद करने लगा । इससे घोड़े को अपने भोजन में काफी असुविधा होने लगी । वह हिरण को मजा चखाने के लिये मौका देखने लगा, परन्तु काफी काल तक कुछ कर नहीं सका । आखिरकार एक मनुष्य को समीप देखकर वह बोला, "भाई, हिरण मेरा बड़ा नुकसान कर रहा है । उसको मैं उचित

सजा देना चाहता हूँ । यदि तुम इस विषय में मेरी सहायता करो, तो मैं तुम्हारा बड़ा आभारी होऊँगा ।'' इस पर आदमी बोला, ''इसमें चिन्ता की क्या बात है! तुम मुझे अपने मुँह में लगाम लगाकर पीठ पर चढ़ने की अनुमति दो, तो मैं हाथ में अस्त्र लेकर तुम्हारे शत्रु का नाश कर दूँगा ।'' घोड़े ने हामी भरी । आदमी तत्काल घोड़े की पीठ पर सवार हो गया और अपने वचन के अनुसार उसने हिरण को मार डाला । इस घटना से उस व्यक्ति को समझ में आ गया कि घोड़ा उसके लिये कितना उपयोगी सिद्ध हो सकता है । अत: उसने घोड़े को लाकर घर में बाँध दिया और नियमित रूप से उसे अपनी सवारी के काम में लाने लगा ।

कहा भी है – *ताड़ से गिरे, तो खजूर में अटके ।*

कुत्ते का काटा आदमी

एक आदमी को कुत्ते ने काट लिया था । वह बड़ा भयभीत होकर जिसे भी सामने देखता, उसी से कहता, ''भाई, मुझे कुत्ते ने काट लिया है; यदि तुम कोई दवा जानते हो तो बताओ ।'' उसकी यह बात सुनकर एक व्यक्ति ने कहा, ''यदि ठीक होना चाहते हो, तो जैसा मैं कहता हूँ वैसा करो ।'' उसने कहा, ''यदि ठीक हो सकूँ, तो तुम जो कहोगे, करने को तैयार हूँ ।''

उस व्यक्ति ने कहा, ''कुत्ते के काटने से जो घाव हुआ है वहाँ से निकले हुए खून से रोटी का एक टुकड़ा भिगाकर उस काटनेवाले कुत्ते को खिला दो । इससे तुम निश्चित रूप से ठीक हो जाओगे ।'' कुत्ते का काटा हुआ आदमी यह सुनकर हँसते हुए बोला, ''भाई, यदि मैं तुम्हारी सलाह के अनुसार चलूँ, तब तो इस नगर के सारे कुत्ते ऐसी रोटियों के लोभ में मेरे पीछे दौड़ना आरम्भ कर देंगे ।''

भालू और सियार

किसी वन में एक भालू और एक सियार रहा करते थे । उन दोनों के बीच प्रगाढ़ मित्रता थी । एक दिन दोनों यथेच्छा घूमते हुए नदी के किनारे स्थित एक श्मशान में जा पहुँचे । उसके पिछले दिन निकट के ग्रामवासी उस श्मशान में अपने एक मृत सम्बन्धी का दाह करने आये थे । दाह करते समय भयानक आँधी-पानी आ जाने के कारण वे आधे जले हुए शव को ही छोड़कर घर लौट गये थे । सियार ने श्मशान में मनुष्य के उस आधे जले हुए शव को देखकर बड़े आनन्दपूर्वक भालू से कहा, ''आओ भाई, हम दोनों मिलकर इस हृष्ट-पुष्ट शव का भक्षण करें । आज न जाने किसका मुख देखकर उठे थे, इसीलिये आज इतने अच्छे भोजन का बन्दोबस्त हो गया है ।'' इतना कहकर सियार उस लाश की ओर दौड़ा ।

लोभवश सियार के मुख से लार टपकते देख भालू हँस-कर बोला, ''देखो भाई, मैं कितना महान हूँ! कहाँ तो तुम मरे हुए आदमी का शरीर खींचकर भक्षण करने को दौड़ रहे हो, परन्तु मैं तो कभी मरे हुए आदमी का स्पर्श नहीं करता ।''

धूर्त सियार इससे जरा भी लज्जित न होकर बोला, ''अरे भाई, नि:सन्देह तुम्हारी बात सत्य है । परन्तु यदि तुम जीवित मनुष्य को देखते ही उसे मारने न दौड़ते, तब मैं तुम्हारी साधुता की प्रशंसा करता ।''

वटवृक्ष और यात्रीगण

गर्मी के मौसम में एक बार कुछ यात्री दोपहर के धूप से पीड़ित होकर अत्यन्त व्याकुल गये थे । निकट ही एक वटवृक्ष देखकर उसके नीचे जा पहुँचे और उसकी शीतल छाया में बैठकर विश्राम करने लगे । थोड़ी देर में ही उनका शरीर ठण्डा हो गया और थकान दूर हो गयी । तब वे लोग तरह तरह की बातें करने लगे ।

उनमें से एक ने थोड़ी देर निरीक्षण करने के बाद कहा – ''देखो भाई, यह पेड़ किसी काम का नहीं; न तो इसमें अच्छा फूल और न अच्छा फल ही होता है । यह आदमी के लिए किसी भी काम नहीं है ।'' यह सुनकर वटवृक्ष बोला, ''अहा, मनुष्य कितना अकृतज्ञ है! मेरी छाया में बैठकर लाभ उठाते हुए भी वह मेरी यह कहकर मेरी निन्दा कर रहा है कि मैं आदमी के किसी काम नहीं आता ।''

कुल्हाड़ी और जलदेवता

एक दु:खी लकड़हारा नदी के किनारे पेड़ काट रहा था । सहसा उसकी कुल्हाड़ी उसके हाथ से फिसलकर नदी में जा गिरी । कुल्हाड़ी हमेशा के लिये हाथ से गई – यह सोचकर लकड़हारा अत्यन्त दु:खी हुआ और उच्च स्वर में रोने लगा । उसका रुदन सुनकर नदी के देवता को बड़ी दया आई । उसके सामने प्रकट होकर उन्होंने पूछा – तुम किस कारण इतना रो रहे हो? उसके सब कुछ बयान करने पर जलदेवता ने तत्काल नदी में डुबकी लगाई और हाथ में सोने की एक कुल्हाड़ी लिये उसके पास आकर पूछा – यही क्या तुम्हारी कुल्हाड़ी है? उसने कहा – नहीं महाशय, यह मेरी कुल्हाड़ी नहीं है । तब उन्होंने पुन: नदी में डुबकी लगाई और

हाथ में चाँदी की एक कुल्हाड़ी लिये उसके सम्मुख आकर पूछा – यह क्या तुम्हारी कुल्हाड़ी है? उसने उत्तर दिया – नहीं महाशय, यह भी मेरी कुल्हाड़ी नहीं है। उन्होंने फिर एक बार पानी में डुबकी लगाई और लोहे की कुल्हाड़ी हाथ में लेकर उससे पूछा – क्या यही तुम्हारी कुल्हाड़ी है? अपनी कुल्हाड़ी देखकर लकड़हारा परम आह्लादित होकर बोला, "हाँ महाशय, यही मेरी कुल्हाड़ी है। इसे पाने की मुझे जरा भी आशा न थी, परन्तु आपकी कृपा से ही मुझे यह मिल सकी है, मैं इसके लिये आजीवन ऋणी रहूँगा।"

जलदेवता ने उसकी कुल्हाड़ी उसके हाथ में सौंप दी। उसके बाद वे बोले – तुम निर्लोभी, सच्चे तथा धर्मपरायण हो; इस कारण मैं तुम्हारे ऊपर परम सन्तुष्ट हूँ। इतना कहने के बाद वे पुरस्कार के रूप में सोने तथा चाँदी की कुल्हाड़ियाँ भी उसे सौंपकर अन्तर्धान हो गये। लकड़हारा अवाक् होकर थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। इसके बाद घर लौटकर उसने अपने परिवार तथा पड़ोसियों के समक्ष इस घटना का सविस्तार वर्णन किया। सुनकर सभी विस्मय से अभिभूत हो गये।

यह अद्भुत वृतान्त सुनकर एक व्यक्ति को बड़ा लोभ हुआ। अगले दिन सुबह वह भी हाथ में कुल्हाड़ी लेकर नदी के किनारे जा पहुँचा। उसने पेड़ के तने पर दो-तीन बार कुल्हाड़ी चलायी और हाथ से कुल्हाड़ी फिसल जाने का अभिनय करता हुआ उसे नदी में डाल दिया। इसके बाद वह 'हाय, हाय' करके उच्च स्वर में रोने लगा। जलदेवता उसके सामने आये और उसके रोने का कारण पूछने लगे। वह सारी बातें बताकर खेद व्यक्त करने लगा।

जलदेवता पिछली बार के समान ही सोने की एक कुल्हाड़ी हाथ में लेकर उसके सामने जा पहुँचे और पूछा – क्यों, यही तो तुम्हारी कुल्हाड़ी है? सोने की कुल्हाड़ी देखकर वह लोभी उसे पाने को व्याकुल हो उठा और 'यही तो मेरी कुल्हाड़ी है' कहकर उसे पकड़ने गया। उसे ऐसा लोभी और झूठा देखकर जलदेवता अत्यन्त नाराज हुए और उसकी भर्त्सना करते हुए बोले कि तू इसे पाने का अधिकारी नहीं है। यह कहकर उस सोने की कुल्हाड़ी को नदी में फेंककर जलदेवता अर्न्तधान हो गये। वह व्यक्ति नदी के किनारे गाल पर हाथ धरे बैठकर दु:खी मन से सोचने लगा, "सोने की कुल्हाड़ी की लालच में मैं अपनी लोहे की कुल्हाड़ी भी गँवा बैठा। मुझे अपनी करनी का उचित ही फल मिला है।"

बैल और मच्छर

एक मच्छर थोड़ी देर एक बैल के ऊपर मँडराने के बाद उसके सिंग पर जा बैठा। थोड़ी देर बाद उसके मन में आया कि कहीं मेरे इस प्रकार बैठने से बैल को तकलीफ तो नहीं हो रही है। वह बैल के सम्मुख जाकर बोला, "भाई, मैं थोड़ी देर तक बिना तुमसे पूछे तुम्हारे सिंग पर बैठा था। इससे तुम्हें बड़ी तकलीफ हुई होगी।" बैल ने कहा, "इसके लिये तुम्हें चिन्तित होने की जरूरत नहीं। तुम चाहे जाओ या सपरिवार आकर मेरे सिंग पर बैठो, मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता। तुम इतने छोटे हो कि मुझे पता ही नहीं चला कि तुम कब आकर मेरे सिंग पर बैठे और कब उड़ गये।

कभी कभी हम लोग अनावश्यक रूप से अपने आपको या अपनी किसी छोटी-मोटी बात को बहुत अधिक महत्वपूर्ण समझने लगते हैं।

रोगी और चिकित्सक

एक चिकित्सक कुछ दिनों से एक रोगी का इलाज कर रहे थे। इसी दौरान रोगी की मृत्यु हो गई। मृतक के अन्तिम संस्कार के समय चिकित्सक ने उनके सगे-सम्बन्धियों के सामने शिकायत के स्वर में कहा, "अहा, यदि वे आहार-पथ्य आदि का नियम मानकर चलते और यथासमय औषधि आदि ग्रहण करते, तो उनकी इस प्रकार अकाल मृत्यु नहीं होती।" इस पर मृतक के एक सम्बन्धी ने कहा, "वैद्यराज, आप जो कह रहे हैं वह ठीक तो है, परन्तु इस समय आपके उपदेश का कोई लाभ मुझे दिखाई नहीं देता। जीवित रहने पर ही वे आपके उपदेशानुसार चल सकते थे, अतः उसी समय उन्हें उपदेश देना उचित था।" स्थान, काल व पात्र देखकर ही उपदेश देना उचित है। ❖ (क्रमशः) ❖

(पृष्ठ १८६ का शेषांश)

अभ्यास द्वारा जीवन में सफलता प्राप्त करता है। अतः छोटे छोटे दैनिक कार्यों को सदा नियमित रूप से करने का अभ्यास करना चाहिये। उससे अध्यवसाय का गुण पुष्ट होता है।

धैर्य, अध्यवसाय और अभ्यास द्वारा महान मनोबल प्राप्त किया जा सकता है तथा मनोबल हमें जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने में सहायक होता है। अतः मनोबल अर्जन की साधना में कटिबद्ध होकर लग जाएँ। ❖